निवेदन

इस संग्रह में शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्ध ही लिए गए हैं जो समय समय पर 'सरस्वती', 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' आदि में निकले हैं। इनमें से चार पाँच निबन्ध काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-निबन्धमाला, भाग १-२' में प्रकाशित हो चुके हैं। 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध पहले 'सरस्वती' (सन १९०८) में और फिर 'हिन्दी-निबन्धमाला भाग २' (सन १९२१) में छपा। इसमें काव्य का यह स्वरूप निरूपित हुआ था—

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अन्तःकरण-वृत्ति से है।" "रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामञ्जस्य स्थापित करके कविता मानव जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है।"

यह लक्षण रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० को इतना पसंद आया कि उन्होंने उक्त लेख का वह सारा अंश जिसमें इस सिद्धान्त का निरूपण था पहले [illegible] में और फिर अपनी [illegible] में उद्धृत किया।

इसी प्रकार [illegible] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका [illegible] प्रकाशित हुआ था [illegible] इस लेख [illegible] ने अपने

संपादित 'भारतेन्दु-नाटकावली' की भूमिका मे ज्यों का त्यों पूरा उद्धृ
किया है। इन बातों से शुक्ल जी के निबन्धो की उपयोगिता पूर्णत
सिद्ध होती है।

विशिष्ट श्रेणी के गद्य-लेखक होने के अतिरिक्त शुक्ल जी उच्चको
के समालोचक और हिन्दी भाषा के विशेषज्ञ हैं। व्रजभाषा, ख
बोली और अवधी के रूप-भेदो का स्वतंत्र विवेचन और उनकी
प्रवृत्तियो का स्पष्ट निरूपण हिन्दी में पहले पहल शुक्ल जी ने अप
'बुद्धचरित' नामक काव्य की भूमिका में किया था। यह भूमिक
भी उक्त रायसाहब ने पहले अपने 'भाषा-विज्ञान' में, फिर 'हिन्दी भाष
का विकास' नामका छोटी पुस्तक मे और इधर हाल ही मे प्रकाशित
'हिन्दी भाषा और साहित्य' (पृष्ठ १२६ से १३६ तक) मे सन्निविष्ट
की है। हिन्दी के वर्त्तमान कवियो मे भी शुक्ल जी का एक अलग
स्थान है। इस प्रकार उनका प्रभाव वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य के कई
क्षेत्रो मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

आशा है कि शुक्ल जी के निबन्धो का यह संग्रह हिन्दी-प्रेमियो के
आदर की वस्तु होगी और उनके और निबन्ध भी शीघ्र संगृहीत हो कर
पुस्तकाकार प्रकाशित हो जायगे।

प्रकाशक

भाव या मनोविकार

अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भर के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरंभ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं। पर ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं, विशेष-विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञान-पूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

भाव या मनोविकार

अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भर के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली होना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरंभ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं। पर ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं विशेष-विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञान-पूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे संबंध रखनेवाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। जैसे, यदि शरीर में कहीं सूई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा, पर यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाय कि सूई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं। जिस बच्चे को पहले अपने ही दुःख का ज्ञान होता था, बढ़ने पर असंलक्ष्य-क्रम अनुमान-द्वारा उसे और बालकों का कष्ट या रोना देखकर भी एक विशेष प्रकार का दुःख होने लगता है जिसे दया या करुणा कहते हैं। इसी प्रकार जिसपर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचनेवाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है वह भय कहलाता है। बहुत छोटे बच्चे को, जिसे यह निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, भय कुछ भी नहीं होता। यहाँ तक कि उसे मारने के लिए हाथ उठाएँ तो भी वह विचलित न होगा, क्योंकि वह यह निश्चय नहीं कर सकता कि इस हाथ उठाने का परिणाम दुःख होगा।

मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे संबंध रखनेवाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है। हानि

या दुःख के कारण में हानि या दुःख पहुँचाने की चेतन वृत्ति का पता पाने पर हमारा काम उस मूल अनुभूति से नहीं चल सकता जिसे दुःख कहते हैं, बल्कि उसके योग से संघटित क्रोध नामक जटिल भाव की आवश्यकता होती है। जब हमारी इंद्रियाँ दूर से आती हुई क्लेश-कारिणी बातों का पता देने लगती हैं, जब हमारा अंतःकरण हमें भावी आपदा का निश्चय कराने लगता है, तब हमारा काम दुःख मात्र से नहीं चल सकता; बल्कि भागने या बचने की प्रेरणा करनेवाले भय से चलता है। इसी प्रकार अच्छी लगनेवाली वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो सुखानुभूति होती है प्रयत्नवान् प्राणी उसी तक नहीं रह सकता; बल्कि उसकी प्राप्ति, रक्षा या संयोग की प्रेरणा करनेवाले लोभ या प्रेम के वशीभूत होता है।

अपने मूल रूपों में सुख और दुःख दोनों की अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओं की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप में करती हैं। इनमें भावना, इच्छा और प्रयत्न की अनेकरूपता का स्फुरण नहीं होता। विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकालकर हँसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचानेवाली वस्तु से लगे रहेंगे; इसी प्रकार शुद्ध दुःख में हम बहुत करेंगे—हाथ पैर पटकेंगे, रोएँगे, चिल्लाएँगे या दुःख पहुँचानेवाली वस्तु से हटेंगे—पर हम चाहे कितना ही उछल कूदकर हँसें, कितना ही हाथ पैर पटककर रोएँ, इसे हँसने या रोने को प्रयत्न नहीं कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षण मात्र हैं जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।

शरीर-धर्म मात्र के प्रकाशन से बहुत थोड़े भावों की निर्दिष्ट और व्यंजना हो सकती है। उदाहरण के लिए क्रोध लीजिए। क्रोध

की संवेदना में भी हो सकता है, भय में भी, क्रोध में भी और प्रेम के वेग में भी। अतः जब तक भागना छिपना या मारना झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भय या क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी। सभ्य जातियों के बीच इन प्रयत्नों का स्थान बहुत कुछ शब्दों ने ले लिया है। मुँह से निकले हुए वचन ही अधिकतर भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं का पता देकर भावों की व्यंजना किया करते है। इसी से साहित्य-मीमांसकों ने अनुभाव के अंतर्गत आश्रय की उक्तियों को विशेष स्थान दिया है।

क्रोधी चाहे किसी की ओर झपटे, या न झपटे उसका यह कहना ही कि 'मैं उसे पीस डालूँगा' क्रोध की व्यंजना के लिए काफी होता है। इसी प्रकार लोभी चाहे लपके या न लपके उसका यह कहना ही कि 'कहीं वह वस्तु हमें मिल जाती!' उसके लोभ का पता देने के लिए बहुत है। वीररस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साहपूर्ण उक्तियों-द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रण-क्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं। बात यह है कि भावों-द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते है। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं। उक्तियों में जितनी नवीनता और अनेकरूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है उतना नुभाव कहलानेवाले व्यापारों-द्वारा नहीं। क्रोध के वास्तविक व्यापार तोड़ना-फोड़ना, मारना-पीटना इत्यादि ही हुआ करते हैं, पर क्रोध की उक्ति चाहे जहाँ तक बढ़ सकती है। 'किसी को धूल में मिला देना, ी कर डालना, किसी का घर खोद कर तालाब बना डालना' तो ी बात है। यही बात सब भावों के संबंध में समझिए।

स्त मानव जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं।

मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संघटन में ही समझना चाहिए। लोक-रक्षा और लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है। धर्म-शासन, राज-शासन, मत-शासन—सबमें इनसे पूरा काम लिया गया है। इनका सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। जिस प्रकार लोक-कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार काम में लाए गए हैं उसी प्रकार किसी संप्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विधान की सफलता के लिए भी।

शासन मात्र में—चाहे धर्म-शासन हो, चाहे राज-शासन या संप्रदाय-शासन—मनुष्य-जाति के भय और लोभ से पूरा काम लिया गया है। दंड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज-शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म-शासन और मत-शासन चलते आ रहे हैं। इनके द्वारा भय और लोभ का प्रवर्त्तन उचित सीमा के बाहर भी प्रायः हुआ है और होता रहता है। जिस प्रकार शासक-वर्ग अपनी रक्षा और स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी इनसे काम लेते आए हैं उसी प्रकार धर्म-प्रवर्त्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी। शासक-वर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आए हैं। मत-प्रवर्त्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और लपकाते आए हैं। एक जाति को मूर्ति-पूजा करते देख दूसरी जाति के मत-प्रवर्त्तकों ने उसे गुनाह में दाखिल किया है। एक संप्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण करते देख दूसरे संप्रदाय के प्रचारक उनके दर्शन तक से पाप लगना बताते हैं।

भाव-क्षेत्र अत्यत पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गंदा करना लो
के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।

शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही
होती है। उनके मूल या मर्म तक उसकी गति नहीं होती। भीतरी
या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखनेवाली शक्ति कविता है जो
धर्म-क्षेत्र में भक्ति-भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की
रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल और लोक के मंगल का संगम
उसी के भीतर दिखाई पड़ता है। इस संगम के लिए प्रकृति के क्षेत्र के
बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए।
जिस प्रकार ज्ञान नर-सत्ता के प्रसार के लिए है, उसी प्रकार हृदय भी।
रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत
सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनंद
का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौंदर्य के साथ हो जायगा, जब उसः
रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबकी र
के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवता
का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनि
हो जायगा। काव्य-योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने
लिए है। सच्चे कवियों की वाणी बराबर यही पुकारत
आ रही है—

> विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
> खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव।—ठाकुर

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनंद-वर्ग में वही स्थान उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप से दुखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपनेको दूर रखने के लिए प्रयत्नवान भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय-द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है। साहस-पूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अंतर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध-वीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यंत प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्व-

स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ पैर हिलाए घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थत्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जायगी। पर इस अर्थत्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी, अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुवदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के

ह। इनमें जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मान- क क्लेश की संभावना से भी बहुत-से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का हस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निंदा, मान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी मझते हुए भी बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते ए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसी लिए रते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे, लोगों में उनका सा आदर-सम्मान न रह जायगा। उनके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब ारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ ी ध्यान न करके, निंदा-स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित था के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निंदा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले र या उत्साही कहलाते हैं यह देखकर बहुत-से लोग केवल इस विरुद्ध लोभ में ही अपनी उछल कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की म मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब हीं, उसकी ओर उनका ध्यान लेश मात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के च की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाहवाही से त्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निंदा या अपमान ी कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की

...वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या
...चित ठहरता है। अत. उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस
...न या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उत्साही का साहसपूर्ण
...नंद उसी की ओर उन्मुख कहा जा सकता है। अत और रसों
...आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीररस में नहीं।
...यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और
...नंद का मेल रहता है।

... जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई
...ती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख
...त्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु
...साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए
...स उत्साह के साथ हनूमान् उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं.—समुद्र
...घने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है—
...स्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

... किसी कर्म के संबंध में जहाँ आनंदपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि
...म उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनंद होता है
...सका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

... कर्म भावना से उत्पन्न
... फल भावना से उत्पन्न और
... आगन्तुक अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त

... इनमें कर्म भावना-प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद
... समझना चाहिए जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता
...है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें ...
...आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त

हमारे देखने में [illegible] त्याग की तत्परता [illegible] को होती है, [illegible] कर्म-वीर ही [illegible] है।

बुद्धि-वीर के दृष्टान्त कभी-कभी हमारे पुराने इतिहास में भी देखने को मिल जाते हैं। जिस प्रकार किसी भारी शास्त्रार्थ में भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस ज़माने में वीरता का प्रसं कर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी ये वाग्वीर आज-कल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रि उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी ताद

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहत इसी ध्यान से जो आनन्द की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न आनन्दमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलम्बन गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी नि करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का वि विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर धर्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दया-वश, श्रद्धा-वश या कीर्त्ति-लोभ-वश दिया जाता है। यदि श्रद्धा दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और

ाय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा
ो अत्यंत प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की
त्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन-से-कठिन
र्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं
ौर अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचानेवाला कर्म-पथ
च्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं।
ल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह
भावमय और आनंद-शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता
ाती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के
ारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे
र्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई
ई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने
ा ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के
ाथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का
नुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए तो
े एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में
से आनंद मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ
ान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्ण-राशि तक पहुँचेगा।
स प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अंतर्गत ही
मझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और
समें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी तो अभाव के बोध के
ारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जाएँ।
से एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि

प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों
यहाँ से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-
धर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता
—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—
ह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की
वस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह
बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख
कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी
ह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर
ह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म
और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा
रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार
का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और
तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए
सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो
जाय बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब से
वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है पर उस
आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की
ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को
देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि
किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी
कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सब

ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है

कभी कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है पर उस आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों को ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन

श्रद्धा-भक्ति

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनंद-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान, बड़ा परोपकारी, वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनंद का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवाएँगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनंद-पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा में अंतर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है। पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुंदर आँख या नाक देख

उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमे अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात मे बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम मे घनत्व अधिक है और श्रद्धा मे विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखनेवाले दो ही एक मिलेंगे, पर उसपर श्रद्धा रखनेवाले सैकड़ो, हजारो, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते है। सच पूछिए तो इसी श्रद्धा के आश्रय ने उन कर्मो के महत्व का भाव दृढ़ होता रहता है जिन्हे धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य-समाज की स्थिति है। कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्मों से कर्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उसपर मुग्ध होकर बहुत-से प्राणी उन कर्मो की ओर प्रेरित होते हैं। कर्ता अपने सत्कर्म-द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र मे मनुष्य की सद्वृत्तियो के आकर्षण का एक शक्ति-केंद्र हो जाता है। जिस समाज मे किसी ऐसे ज्योतिष्मान् शक्ति-केंद्र का उदय होता है उस समाज मे भिन्न-भिन्न हृदयो से शुभ भावनाएँ मेघ-खंडो के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती है कि उनकी घटा-सी उमड़ पड़ती है और मगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते है।

हमारे अतःकरण मे प्रिय के आदर्श रूप का सघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का सघटन उसके फैलाए हुए कर्म-ततु के उपादान से होता है। प्रिय का चिंतन

हम आँख मूँदे हुए, संसार को भुलाकर करते हैं; पर श्रद्धेय का चिंतन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर, करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनंदातर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुंदर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद् भाव उत्पन्न हुआ तो वह भाव श्रद्धा है, क्योंकि वह काव्य या चित्र-रूप मध्यस्थ-द्वारा प्राप्त हुआ है।

प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी-कभी केवल एक साथ रहते-रहते दो प्राणियों में वह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें, उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के संपूर्ण जीवन-क्रम के सतत साक्षात्कार के अभिलाषी होते हैं। वह उसका उठना बैठना, चलना फिरना, सोना खाना पीना सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते बैठते, चलते फिरते हैं, पर सबका उठना-बैठना, चलना फिरना उसे वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है।

सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय त
पहुँचती है और प्रीति मे प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि
जाती है। एक मे व्यक्ति को कर्मों-द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है
दूसरी मे कर्मों को व्यक्ति-द्वारा। एक मे कर्म प्रधान है, दूसरी मे व्यक्ति।

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरत मोहित होकर उससे प्रेम क
सकते है, पर उसके रूप की प्रशसा किसी दूसरे से सुनकर चट हमार
प्रेम नही उमड़ पड़ेगा। कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप
रहेगा, पीछे वह प्रेम मे परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रे
एक मात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है, पर श्रद्धा अपनी सामा
जिक विशेषता के कारण दूसरो के अनुभव पर भी जगती है। र
की भावना का बहुत कुछ सबंध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अत
किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इ
व्यापार मे सामाजिकता आ गई, क्योंकि हमे उस समय यह ध्या
हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनद या सुख मिला औ
हमे भी मिल सकता है। जब तक हम किसी के रूप का बखान सुनक
'वाह वाह' करते जायँगे तब तक हम एक प्रकार के लोभी अथव
रीझनेवाले या कद्रदान ही कहलाएँगे, पर जब हम उसके दर्शन
लिए आकुल होगे उसे बराबर अपने सामने ही रखना चाहेगे, तब प्रे
का सूत्र-पात समझा जायगा। श्रद्धा-भाजन पर श्रद्धावान अपन
किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता पर प्रेमी प्रिय के हृदय प
अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम
श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुए
हम अपने को उस समाज मे समझते है जिसके किसी अंश पर—चाहे

स्वार्थ त्याग करने पर हमारे मुँह से 'धन्य धन्य' भी न निकला तो न
समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हममें कोई आशा नहीं
हम समाज में रहने योग्य नहीं। किसी कर्म में प्रवृत्त होने के पहले
यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लि
या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म की पहली
तैयारी है। श्रद्धा-द्वारा हम यह आनंद-पूर्वक स्वीकार करते हैं कि
कर्म के अमुक-अमुक दृष्टांत धर्म के हैं, अत: श्रद्धा धर्म की पहली
सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को रहना
चाहिए, जिसमें जब कभी अवसर आए तब वह कर्म-रूपी दूसरे सोपान
पर हो जाय।

अब रह गई साधन-संपत्ति संबंधिनी श्रद्धा की बात। यहाँ पर साधन-संपन्नता का ठीक ठीक भाव समझ लेना आवश्यक है। साधन-संपत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास-संपन्नता है। यदि शिक्षा द्वारा उसके भाव उन्नत हैं, वह सहृदय है तो वह अपनी इस सम्पन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभावपूर्ण काव्य प्रस्तुत करने में कर सकता है, यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव-शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छंदों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचिपूर्ण भावनाओं को छंदो-बद्ध करेगा। उसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखनेवाले भी बहुत मिल जायँगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन-संपन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।

देशी कारीगरी, चित्रकारी, संगीत आदि में नियम-पालन के अभ्यास-

संगीत के पेचपाच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावंत पक्का गाना गाने के लिए आँख मूँद मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन दिन भर चुपचाप बैठे रहनेवाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो सम नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वर-ग्राम की लंबी चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अंत:करण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक स्वर-स्थान के गले में भी इस लंबी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह वाह' 'ओहोहो' निकलने लगा। काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। बात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यास गम्य और श्रम-साध्य अंग थे वे तो हद के बाहर घसीटे गए और जितने सहृदयता से संबंध रखनेवाले थे उन पर ध्यान ही न रहा। यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण कर सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फीलपाव! इनकी दशा सान और रंदा से चढ़ी गुठली धार की तलवार की सी हो गई।

किसी मनुष्य में बहुत अधिक शारीरिक बल देख उसपर जन साधारण की श्रद्धा होती है और होनी चाहिए। प्रो० राममूर्ति को मोटर रोकते, लोहे के मोटे मोटे सीकड़ तोड़ते, छाती पर ५० मन का पत्थर रखते, हाथी खड़ा करते और गाड़ी दौड़ाते देख उनके शारीरिक बल के कारण उनपर श्रद्धा होती है। अब इस संपत्ति का वे सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरुपयोग भी कर सकते हैं औ

अनुपयोग भी कर सकते हैं। वे इसके द्वारा किसी भारी संकट में अपनी या दूसरे की रक्षा भी कर सकते हैं और किसी निरपराध को पीड़ित भी कर सकते हैं। पर हमारी श्रद्धा बिना सदुपयोग या दुरुप-योग की संभावना की कल्पना किए शुद्ध साधन संपन्नता ही पर होती है। कोरे विद्वानों के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भी साधन-संपन्नता ही के संबंध में होती है, उसके उपयोग की निपुणता या प्रतिभा पर निर्भर नहीं होती। विद्वत्ता किसी विषय की बहुत-सी बातों की जान-कारी का नाम है जिसका संचय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है। यह बात विद्वान् की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह ज्ञान का भंडारी और उपयोग-कर्ता दोनों हो—अर्थात् वह उत्तम चिंतक, वक्ता, लेखक, अन्वेषक या कवि भी होकर उस संचित साधन का उपयोग करे और अपने मूल विचारों का प्रभावपूर्ण प्रकाश करे। यदि विद्वान में यह प्रतिभा नहीं है—यह शक्ति नहीं है तो वह अपनी संचित जानकारी को कला-कुशल और प्रतिभाशाली लेखकों या तत्त्वान्वेषकों के सामने रखे कि वे उससे आवश्यकतानुसार काम लें। इस रीति से उसकी विद्वत्ता सामाजि[illegible]ग में आ जाती

संगीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है जिस समय कोई कलावंत पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहनेवाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वर-ग्राम की लंबी चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अंतःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक स्वर-स्थान के गले से भी इस लंबी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह वाह' 'ओहो हो' निकलने लगा। काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही [illegible] गया। बात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यास-[illegible] और श्रम-साध्य अंग थे वे तो हद से बाहर [illegible] और जितने सहृदयता से संबंध रखनेवाले थे उन पर ध्यान ही न रहा। [illegible] वर्तमान रूप धारण कर [illegible] आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी [illegible] जड़ी गुठली [illegible] [illegible]

किसी [illegible] आधिक शारीरिक बल देख उसपर जो [illegible] होती है और होना चाहिए। प्रो० राममूर्ति [illegible] मोटी मोटी साँकड़ तोड़ते, छाती पर ४० मन [illegible] खड़ा करते और गाड़ी दौड़ाते देख उनके शारीरिक [illegible] उनपर श्रद्धा होती है। अब इस [illegible] का वे सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरुपयोग भी कर सकते हैं।

अनुपयोग भी कर सकते है। वे इसके द्वारा किसी भारी सकट से अपनी या दूसरे की रक्षा भी कर सकते है और किसी निरपराध को पीड़ित भी कर सकते है। पर हमारी श्रद्धा विना सदुपयोग या दुरुपयोग की सभावना की कल्पना किए शुद्ध साधन संपन्नता ही पर होती है। कोरे विद्वानो के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भी साधन-सपन्नता ही के संबध मे होती है, उसके उपयोग की निपुणता या प्रतिभा पर निर्भर नहीं होती। विद्वत्ता किसी विपय की बहुत सी बातो की जानकारी का नाम है जिसका सचय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है। यह बात विद्वान की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह ज्ञान का भडारी और उपयोग-कर्ता दोनो हो—अर्थात् वह उत्तम चितक वक्ता, लेखक अन्वेपक या कवि भी होकर उस सचित साधन का उपयोग करे और अपने मूल विचारो का प्रभावपूर्ण प्रकाश करे। यदि विद्वान मे वह प्रतिभा नहीं है—वह शक्ति नहीं है तो वह अपनी [illegible] जानकारी [illegible] कला कुशल और [illegible] [illegible]

[illegible]

'जितनी श्रद्धा हो उतना दो'। यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के संबंध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं। मनोविकार के उपयुक्त विषयों के निश्चय में कभी-कभी बुद्धि की भी थोड़ी-बहुत आवश्यकता होती है। क्योंकि एक ही व्यक्ति के प्रति किसी को श्रद्धा होती है और किसी को अश्रद्धा, इसका कारण घृणा के अंतर्गत अच्छी तरह दिखाया गया है।

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि से आनंद का अनुभव होने लगे—जब उससे संबंध रखनेवाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे तब भक्ति-रस का संचार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, [illegible] आदि भी हमें अच्छा लगने लगे तब हम समझें कि हम उसके [illegible] भक्त की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन [illegible] अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं, [illegible] कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं [illegible] करते हैं [illegible] घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं—[illegible] देना चाहते हैं [illegible] समय समय पर उसके दर्शन [illegible] उसकी [illegible] करेंगे या कभी कुछ उपहार लेकर [illegible] अनन्य भक्त हो जायगा वह अपने जीवन के [illegible]

अब भगवद्भक्ति को लीजिए। ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य की भक्ति के आधार क्या क्या है। मनुष्य विश्व-विधान का एक क्षुद्र चेतन अंश है। उसके धर्म अधर्म, दया, निष्ठुरता आदि के भाव विश्व के उतने ही अंश से संबंध रखते हैं जितने के भीतर उसे कार्य करना है। यह कार्य और कुछ नहीं अपनी समष्टि-स्थिति और सुख-संतोष का प्रयत्न मात्र है। अपने कार्यक्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामंजस्य ढूँढ़ता है तो नहीं पाता है—कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धांत चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य समाज में भी जान-बूझ कर क्यों न किया जाय? यह नहीं सोचता कि मनुष्य जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में इसके आगे की ओर [illegible] उसे दिखाई नहीं दे रही है। वह दया को निरर्थक समझ अपने [illegible] वह किसी का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कर तक कर सकती है [illegible] [illegible] [illegible] का उद्योग है। इनमें से किसी [illegible] नहीं [illegible] मनुष्य-

स्वानुभूति की धारणा कर सकता है। इसी से भर्तृहरि ने 'स्वानुभूत्यै-कमानाय' कहकर नमस्कार किया है। यदि चिन्मय में अपनी इतनी अनुभूति का भी निश्चय मनुष्य को न हो तो वह प्रार्थना आदि क्यों करने जाय? कुत्ते प्रार्थना क्यों नहीं करते? उनमें धर्म की प्रतिष्ठा नहीं है—अर्थात् वे चेतना की उस भूमि तक नहीं पहुँचे हैं जिसमें समष्टि-स्थिति की रक्षा से संबंध रखनेवाले भावों का संचार होता है। वे यह नहीं जानते कि एक दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर-समाज की उन्नति और वृद्धि नहीं हो सकती। समष्टि रक्षा या धर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाले दया आदि भाव उन्हें प्राप्त नहीं हैं। उनमें स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का भाव नहीं। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की धारणा उन्हें नहीं होती। जहाँ धर्म भाव है वहीं ईश्वर की भावना है। जिन प्राणियों में जिन भावों का विकास नहीं हुआ है उनमें उनकी चरितार्थता की आवश्यकता प्रकृति नहीं समझती।

भक्ति का स्थान मानव-हृदय है—वहीं श्रद्धा और प्रेम के योग से इसका प्रादुर्भाव होता है। अतः मनुष्य की श्रद्धा के जो विषय ऊपर कहे जा चुके हैं उन्हीं को परमात्मा में अत्यन्त विशद रूप में देखकर ही उसका मन [illegible] है और वह उस विशद रूप-विशिष्ट का सान्निध्य चाहता है। [illegible] के भाव हैं जो शील का भाव है, जो उदारता [illegible] का भाव है उन्हें वह अत्यन्त पूर्ण रूप से परमात्मा में देखता है और उस पूर्ण पुरुष की भावना से उसका हृदय गद्गद हो जाता है और उसका धर्म-पथ आनंद से जगमगा उठता है। धर्म-क्षेत्र [illegible] वह अपने [illegible] ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देख एक हिंदू के हृदय की सारी शुभ और

पाहन हो तो वही गिरि को,

जो किये हरि छत्र पुरंदर-धारन ।

जो खग हों तो बसेरो करौं,

मिलि कूल कलिंदी कदंब के डारन ॥

रामलीला-द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्यदेव की आदर्श मानव लीला का माधुर्य देखते हैं। जिस समय दूर-दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा-मुकुटधारी विजयी राम-लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से बिधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं उस समय वे धर्म के सौंदर्य पर लुब्ध और अधर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम कृष्णलीला में जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्म रक्षा के अलौकिक बल का विधान देखते हैं, तब हमारी जीवन-धारण की अभिलाषा दूनी—चौगुनी हो जाती है। हिंदू-जाति इन्हीं की भक्ति के बल से [illegible] [illegible] अस्तित्व बचाती चली आई है—[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

होती है वहाँ इनका स्मरण [illegible]

संसार में [illegible]

कर गूढ़ बात शायद ही कोई और मिले। झूठे खिताबों के द्वारा यह कभी सच नहीं की जा सकती। कर्म-सौंदर्य की योजना क्षात्र जीवन जितने रूपों में संभव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप-माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख भोग के साथ परदुःख-कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलंबन इत्यादि कर्म-सौंदर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते हैं? इसी से क्षात्र-धर्म के सौंदर्य में जो मधुर आकर्षण है, वह अधिक व्यापक, अधिक मर्म-स्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की संपूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।

संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती। इस बात को भूलकर जो उपदेश दिए जाया करते हैं वे पाखंड के अंतर्गत आते हैं। वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक-रक्षा का मार्ग होगा—वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौंदर्य दिखाई देगा वही सच्चा [illegible] धर्म का मार्ग होगा। क्षात्र-धर्म-पालन की आवश्यकता [illegible] बनी रहेगी। [illegible] अत्याचार-युग कभी नहीं हट सकता। [illegible] 'कर्म' [illegible] अत्याचार करने पर एक क्रूर विरोध के हम [illegible] हैं [illegible] उसका दुष्कर्म न तो स्वयं है अथवा उनका [illegible] है नहीं है [illegible] दशा में यदि हम [illegible] की रक्षा इष्ट है तो हमें [illegible] प्रवृत्त होना होगा जिससे उन दुष्टों को बाधा पहुँचे [illegible] हमारा क्रोध कितना सुंदर और [illegible] कितना [illegible] होगा।

बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्विक शील ही होता है। अतः करुणा और सात्विकता का संबंध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करनेवाली प्राणियों की आदि अंतःकरण-वृत्ति मन या मनोवेग है। अतः इन मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्विकता का आदि संस्थापक होगा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं। बुद्धि दो वस्तुओं के रूप [illegible]

[illegible]

और उद्धव से कहती हैं—

> सँदेसो देवकी सों कहियो।
> हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
> उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
> जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देता क्रम क्रम करिकै न्हाते॥
> तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ, तऊ मोहिं कहि आवै।
> प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥
> अब यह नर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
> अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है, जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री सन्देह करती है कि—

> नदी किनारे धुआँ उठत है मैं जानूँ कछु होय।
> जिसके कारण मैं जली वही न जलता होय॥

शुद्ध वियोग का दुःख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है जिसमें प्रिय के दुःख या कष्ट आदि की कोई भावना नहीं रहती

जिस व्यक्ति से किसी का घनिष्ठ प्रेम और परिचय होता है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है संसार तो कहने सुनने के लिए है वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके संसार के एक प्रधान अंग का कट जाना या जीवन के एक—

और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं, तो हमारी दया मोटे मुसंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेगरहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।

करुणा अपना बीज अपने आलंबन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखलाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। कोमल भावों की योजना में दक्ष बँगला के उपन्यास लेख-

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाषंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंधनिर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिल्कुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है। उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाषंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख हताश हो मुँह बना बना कर कहने लगे हैं — करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, आनंद छोड़ो। बस हाथ पैर हिलाओ, काम करो।

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि

के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—
की स्वच्छंदता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते
इस मनोवेग के मारे लोग सिर ऊँचा नहीं करते, मुँह नहीं दिखाते,
ाने नहीं आते. साफ साफ कहते नहीं. और भी न जाने क्या क्या
करते। 'हम बुरे न समझे जायँ' यह स्थायी भावना जिस में जितनी
अधिक होगी. वह उतना ही लज्जाशील होगा। 'कोई बुरा कहे
भला.' इसकी परवा न कर के जो काम किया करते हैं वे ही
ज्ज कहलाते हैं।

जिस समाज में हम कोई बुराई करते है. जिस समाज में हम
नी मूर्खता, धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं. उसके अंग होने
त्वत्व हम जता नहीं सकते. अत. उसके सामने अपनी सजीवता के
णो को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं
ता कि हम भी इस ससार मे है। जिसके साथ हमने कोई बुराई
होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा होती है ? हमारी चेष्टाएँ
पड जाती है. हमारे ऊपर घडो पानी पड जाता है हम गड जाते है
चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमे समा जाते सारांश
कि यदि हम कुछ देर के लिए मर नहीं जाते तो कम से कम अपने
ा के प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि लज्जा
कारण अपनी बुराई त्रुटि या दोष का हमारा अपना निश्चय नहीं
रे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है. जो हम बिना किसी प्रकार
प्रमाण पाए केवल अपने आचरण या परिस्थिति विशेष पर दृष्टि रख
ही कभी कभी कर लिया करते हैं। हम अपने को दोषी समझें
आवश्यक नहीं दूसरा हमें दोषी या बुरा समझे यह भी आवश्यक

ग्लानि है, जिससे हमारा हृदय पिघल कर किसी नए साँचे में ढलने योग्य हो सकता है। अतः कोई ऐसी बुराई करके जिससे चार दमियों को कष्ट पहुँचा हो, हम यह समझने में कि 'हम ने बुरा किया' तनी ही जल्दी करते हैं उतने ही मजे में रहते हैं क्योंकि बहुधा ऐसा ता है कि जिन्हें कष्ट पहुँचा रहता है वे हमारी इस समझ का पता कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। अपनी किसी बुराई को धंधा मानकर मन । खटका छुड़ानेवाले धोखा खाते हैं।

अपमान से जो ग्लानि होती है वह दो भावों के आधार पर—'हम ते तुच्छ हैं' और 'हम ऐसे बुरे हैं'। इन दोनों भावों को कभी कभी लोग नी फुरती और सफाई से रोकते हैं। अपनी तुच्छता का भाव धिकांश में अपनी असामर्थ्य और दूसरे की सामर्थ्य का भाव है। इन ने असमर्थ हैं कि दूसरे हमारा अपमान कर सकते हैं इस भाव से क्ति तो लोग चट अपनी सामर्थ्य का परिचय देकर—अपमान रनेवाले का अपमान कर के—कर लेते हैं। रहा अपने दोष या बुराई भाव उससे छुटकारा लोग दोष देनेवाले का दोष ढूँढ कर [illegible] । इस प्रकार अपनी सामर्थ्य [illegible]

[illegible]
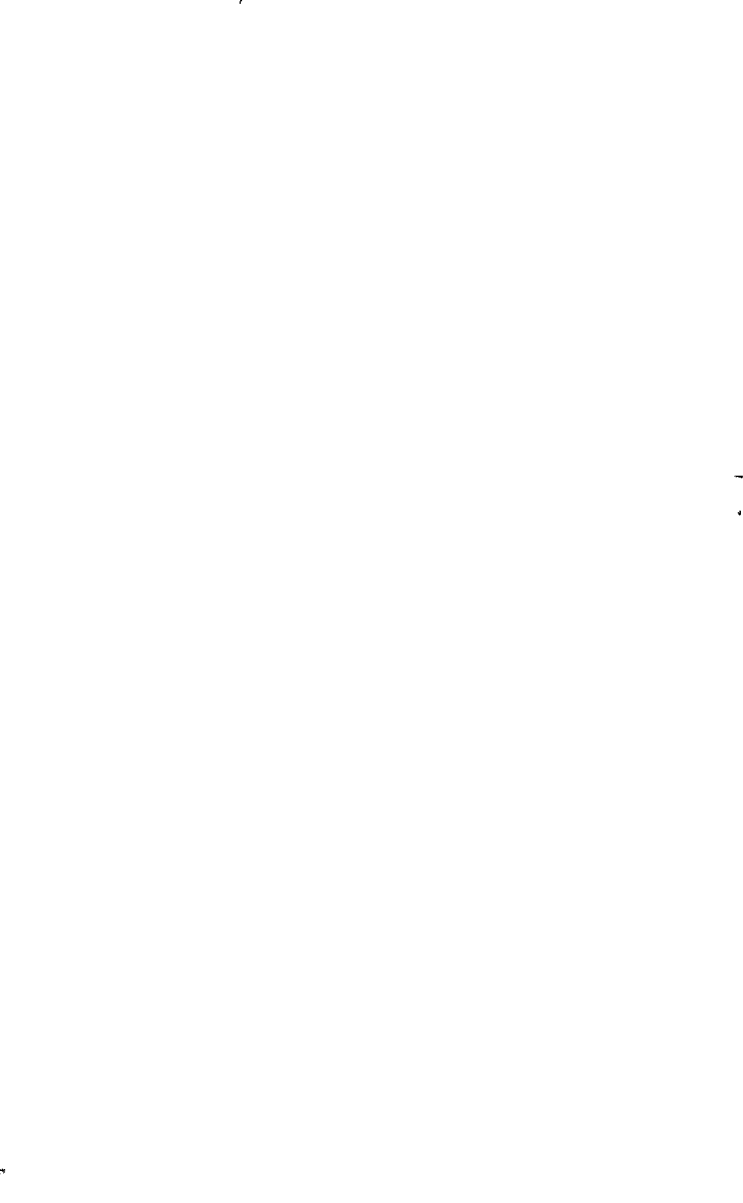
ा है, फिर तो लज्जा ही लज्जा हाथ रह जाती है। सामान्य से
गान्य व्यवहार में भी संकोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया
ने में संकोच करते हैं, साफ़ साफ़ बात कहने मे संकोच करते हैं,
र बैठने में संकोच करते हैं, लेटने में संकोच करते हैं, खाने
में संकोच करते है, यहाँ तक कि एक सभा के सहायक
ो है जो कार्यविवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश
कि एक बेवक़ूफ़ी करने मे लोग संकोच नहीं करते और
बातो में करते हैं। इससे उतना हर्ज भी नहीं क्योकि बिना
कूफ हुए बेवक़ूफ़ी का बुरा लोग प्रायः नहीं मानते। इतनी क्रियाओं
प्रतिबंधक होने के कारण सकोच शील का एक प्रधान अंग, सदाचार
एक सहज साधक और शिष्टाचार का एक मात्र आधार है। जिसमें
ल-सकोच नहीं वह पूरा मनुष्य नहीं। बाहरी प्रतिबधों से ही हमारा
ा शासन नहीं हो सकता—उन सब बातो की रुकावट नहीं हो सकती
न्हें हमें न करना चाहिए। प्रतिबध हमारे अत करण मे होना
ाहिए। यह आभ्यतर प्रतिबध दो प्रकार का हो सकता है—एक
वेचनात्मक जो प्रयत्नसाध्य होता है दूसरा मनप्रवृत्यात्मक जो
भावज होता है। बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जबरदस्ती रोकी जाती है पर
ज्जा, सकोच आदि की अवस्था मे प्राप्त होकर प्रवृत्ति मन आपसे
ाप रुकता है—चेष्टाएं आप से आप शिथिल पड़ती हैं। यही
कावट सच्ची है। मन की जो वृत्ति बड़ो की बात का उत्तर देने
रोकती है, बार बार किसी से कुछ मांगने से रोकती है किसी पर
सी प्रकार का भार डालने से रोकती है उसके न रहने से [illegible]
ला कहाँ रहेगी? यदि सब की झझक एक बारगी खुल जाय तो एक
ओर छोटे मुहों से बड़ी बड़ी बातें निकलने लगे चार दिन के मेहमान

क की जाती है क्योंकि उससे कभी कभी आवश्यकता से अधिक
उठाना पड़ता है तथा व्यवहार तो व्यवहार शिष्टाचार तक का
ाह कठिन हो जाता है। सुख से रहने का सीधा रास्ता बतलाने-
ों ने तो 'आहार और व्यवहार में लज्जा का एकदम त्याग ही
य ठहराया है। पर मुझे तो यहाँ यह देखना है कि बात बात में
ा करनेवालों की मनोवृत्ति कैसी होती है, उनके चित्त में समाई क्या
ी है। कोई क्रिया या व्यापार किसी को बुरा, बेढंगा या अप्रिय न
यह ध्यान तो निर्दिष्ट और स्पष्ट होने के कारण कुछ विशिष्ट
पारों का ही अवरोध करता है, क्योंकि जो जो काम लोगों को बुरे
ो या अप्रिय लगा करते हैं उनकी एक छोटी या बड़ी सूची सबके
ुभव में रहती है। पर जो यही अनिश्चित भावना रखकर संकुचित
ा हैं कि कोई बात 'लोगों को न जाने कैसी लगे', उन्हें न जाने कितनी
ों में संकोच या लज्जा हुआ करती है। उन्हें बात बात में खटका
ा है कि उनका बैठना न जाने कैसा मालूम होता हो, बोलना न जाने
ा मालूम होता हो हाथ पैर हिलाना न जाने कैसा मालूम होता हो,
ना न जाने कैसा मालूम होता हो यहाँ तक कि उनके ऐसे आदमी का
ा—वे कैसे हैं चाहे वे कुछ भी न जानते हों—न जाने कैसा मालूम
ा हो। न जाने कैसे लगने का डर उन्हें लोगों के लगाव से दूर दूर
ता है। यह आशंका इतनी अव्यक्त होती है लज्जा और इसके बीच
अंतर इतना क्षणिक होता है कि साधारणतः इसका लज्जा से अलग
ुभव नहीं होता।

कुछ लोगों के मुँह से लज्जा या संकोच के मारे आदर सत्कार के
वश्यक वचन मुँह से नहीं निकलते, बहुत से लड़कों को प्रणाम करने
लज्जा मालूम होती है। ऐसी लज्जा किसी काम की नहीं समझी

वसिष्ठ की गाय बहुत पसंद आई और वे उसके बदले में र
गायें देने के लिए तैयार हो गए पर वसिष्ठ ने अपनी गाय न
उसके लिए लड़-भिड़ कर भी न वसिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्
इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चन्द्र का एक
पसंद आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं।
प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि
स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता
किसी की अच्छी चीज देखते ही जिनके मुँह में पानी आ जा
बराबर खरी खोटी सुना करते हैं। एक लोभ में दूसरे लोभ का नि
भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आ
विशेष विषय-गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो ल
त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष
निर्दिष्ट वस्तु से है अत उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं
त्याग वह उसके लिए कर सकता है विश्वामित्र एक गाय के
अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे अन्य का
अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छावाले लोभ को व
जिसका प्राय विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा को
करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के संबंध में बहुत से लोग बिना
विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई
या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक—प्राय जिसे बाधा प
होता है—बुरा कहता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा इसी प्रकार बहुत
बुरा कहनेवाले हो जाते है। साराश यह कि जो लोभ दूसरे
सुखशांति या स्वच्छंदता का बाधक होता है, अधिकतर वही निंद्य समझ

ता है। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी बगीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है? यदि हम किसी तु पर लुभा कर उससे उतना ही सम्पर्क रखना चाहते हैं जितना सब न एक साथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं क सकता। बगीचे को आंख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, र उसमें के फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है। कुछ आदमियों का देखना बिना बंद किए देखा नहीं जा सकता, हां दृष्टि-सम्पर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ क की इच्छा दूसरे की इच्छा का बाधक न हो कर साधक होती है हाँ एक ही वस्तु का लोभ रखनेवाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लुटेरे या डाकू इसी प्रकार दलबद्ध हो कर काम करते हैं।

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठा कर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता [illegible] हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का [illegible] वास्तव में [illegible] और कुछ नहीं है [illegible] बकवाद या मेल [illegible] देश से प्रेम है तो [illegible] पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी [illegible] भरी दृष्टि से देखेगा [illegible] जो यह भी नहीं [illegible] यह भी नहीं [illegible] नहीं देखते कि [illegible]

यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है। वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की आमदनी का परता बता कर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे कहना चाहिए कि, "भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दु.ख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े, या खड़े खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।" प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करनेवाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान-मात्र हो सकता है। हितचिंतन और हितसाधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है, वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिसे व्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

रसखान तो किसी की "लकुटी अरु कामरिया" पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देशप्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके-मादे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझ कर, या कम से कम न खीझ कर, बिना मन मैला किए कमरे की फ़र्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों! तुम जरा से दुबले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार

भी सकता है? हाँ, हो सकता है—परिचय से, सान्निध्य से। [इ]स प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार [सा]न्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम [रह]ते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर [सु]नते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, साराश [य]ह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति [लो]भ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह [जा]ता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी [जि]नके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय [स]े निकला है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम [न]हीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो [दे]श के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँख खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे तब तुम्हारे अन्तःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हम से कभी न छूटे, वह सदा हरा भरा और फला फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्तमान प्रेमसूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का

ग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है
सका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग
रते हैं। यदि उनमें से कोई एक अकेले उसकी रखवाली करने चले
ौर किसी को पास न आने दे, तो सब लोग मिल कर विरोध करेंगे।
र कभी कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के
स अविश्वास के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता
उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या
भोग आदि में औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचती है तो किसी एक
ा उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सब को सुख और आनंद है तो
न पर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा, रक्षा के भाव की एकता के कारण,
रस्पर मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी। यदि दस आदमियों में से सब
ी यही यही इच्छा है कि कोई मंदिर बना रहे, गिरने-पड़ने न पाए
अथवा और अधिक उन्नत और सुसज्जित हो, तो वह सम्मिलित इच्छा
ऐक्य-सूत्र होगी। मिल कर कोई काम करने में उस का साधन अधिक
था सुगम होता है यह बतलाना पर-उपदेश-कुशल नीतिज्ञों का काम
है, मेरे विचार का विषय नहीं मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक
प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका बुद्धि से भिन्न है। मुझे तो
यह कहना है कि इन इन अवस्थाओं में मन की प्रवृत्ति होती है। अब
मेल से क्या क्या लाभ होते हैं यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते
हैं और न जाने कितने लोग सुन कर झगड़ा करते हैं

लोभ का सब से प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का
प्रवर्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु
बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस

मरे पुरवालों से, और एक देश की रक्षा दूसरे देशवालों से करनी
हती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेदभाव भेद कर अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँची हुई
ती है वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं—जिस स्थिति में भूमंडल
समस्त प्राणी, कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक, सुखपूर्वक रह
कते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध के परे हैं।
नसे जो विरोध रखें वे सारे संसार के विरोधी हैं, वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनंद देती रहे और कोई वस्तु
नी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्त रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष
क्षा की इच्छा ये दो विभाग पहले किए गए हैं। अतः पहली को
दि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहें तो बहुत अनुचित न
होगा। वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमें सुख
या आनंद न मिल सकेगा इसीसे हम उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होते हैं।
यदि ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिए जाता हो और वह बीच में
नष्ट हो जाय, तो हमें दुःख न होगा क्योंकि जब चीज हमारे हाथ से
निकल गई, हमें वह सुख या आनंद दे ही नहीं सकती तब वह चाहे
रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि न जानने के प्रति हमें
क्रोध होगा या इच्छा होगी तो हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तु-रक्षा की
इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी हम किसी दशा में उस वस्तु
का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे
को लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी बच्चा मेरा है दूसरी कहती
थी मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा अच्छा तुम
दोनों को बच्चा काट कर आधा आधा बाँट दिया जायगा। इतना
सुनते ही दोनों में से एक तो घबरा कर बोल उठी 'जाने दीजिए

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है, इसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण वहीं समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिये बहुत कम स्थान रह जाता है। और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, इससे असंतोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिये स्थायी अनवकाश हो जाता है। और मनोविकारों में यह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है पर उन बातों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर भी चिढ़ जाता है जिनसे और लोग नहीं चिढ़ते पर वह सदा इस फेर में नहीं घूमा करता कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध से आग बबूला होनेवाले तुरत करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी-पानी होते हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि से अन्य वृत्तियों का जो बाध होता है वह प्रायः क्षणिक होता है पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है लोभ का प्रयत्न अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभी को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है धन का लोभी धन पा कर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता या तो भले बुरे का सब विचार छोड़ रक्षा में तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्यमुख वृत्तियों का जो स्तम्भन होता है वह स्वभावान्तर्गत हो जाता है। अस्तु स्थूल रूप से उक्त लोभ के दो लक्षण कहे जा सकते हैं—

(१) असंतोष।

(२) अन्य वृत्तियों का दमन।

करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा ? जो अनाथ विधवा का सर्वस्व-हरण करने के लिए झूठे अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुतकार सुन कर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी मे रुपया गाड़-कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं; जो अपने परिजनो का कष्टक्रं-दन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अंतःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना-न-जीना बराबर है।

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान अपमान मे समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या ? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुंदर से सुंदर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ-से-तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मतलब है [illegible] वे करने जायँ ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं [illegible] उनके लिए उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं [illegible] जिस [illegible] से पाने [illegible] जाता है वह बात उन्हें कैसी लगती होगी [illegible] समझते [illegible] है। जिस बात से कुछ [illegible] वह उनके किसी काम की नहीं—[illegible]

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, …ने यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सब से बड़ा कारण है दोनों …ों में मनस्तत्त्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता …जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अतः किसी व्यक्ति का …भी उस व्यक्ति से केवल बाह्य संपर्क रख कर ही तुष्ट नहीं हो सकता, …सके हृदय का संपर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के …थ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक संबंध हो सकता है उतना वस्तु … साथ नहीं। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलंबन, इन दो पक्षों … भिन्न भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि …ी दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है। … वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर …भाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अंतर्वृत्ति पर …भाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना …म उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ती चली जाती है। किसी …स्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिंता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को …लूम हो जाय कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या …मोहित होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय …ो उसके प्रेम की सूचना मिल जाय। उसे इस बात की चिंता रहती … कि प्रिय को भी उससे प्रेम हो गया है, कम से कम उसके प्रेम का …ता लग गया है, या नहीं—

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वै है।

भक्ति जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही रामभक्त सा जान पड़ता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चींटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझसे क्या प्रयोजन?' कह कर विरक्त या उदासीन रहेगा—क्रोध, करुणा, स्नेह, आनंद आदि को पास तक न फटकने देगा—उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ, भक्त कदापि न कह सकूँगा। राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। लोकमंगल की प्रेरणा द्वारा भक्त अपने 'स्नेह का नाता' संसार से निभाता हुआ राम से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस संबंध निर्वाह में जो बाधक हो, भक्त के लिए वे अवश्य त्याज्य हैं चाहे वे अपने सुहृद और स्नेही परिजन ही क्यों न हों क्योंकि—

नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

लौकिक और लोकबद्ध प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेम और [illegible] का कुछ विचार करना चाहते हैं। [illegible] है अर्थात् आरम्भ [illegible] फिर दूसरे में [illegible] दूसरे में होता ही नहीं [illegible] जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का [illegible] प्रेम का [illegible]

[illegible] हो जाता है। बंकिम बाबू की 'दुर्गेशनंदिनी' में आयशा का जगतसिंह पर अनुराग इसी उच्च भूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगतसिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अंत में तिलोत्तमा के साथ जगतसिंह का विवाह करा कर पूर्ण शांति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानस लोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्च भूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या संपर्क की कामना के त्याग द्वारा ही वह प्रेमरक्षा और शांतिलाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्तन (Reaction) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी, ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिए रास्ता खुल जाएगा। यहाँ तक कि [illegible] पर क्रोध का दौरा होगा और प्रेम का स्थान बैर ले लेगा।

[illegible]

हैं। निर्लज्जता की कथा कितनी ही सुरीली तान मे सुनाई जाय उत्पन्न ही करेगी। कैसा ही गंदा आदमी परोपकार करे उसे देख उत्पन्न हुए विना न रहेगी।

अरुचिकर और प्रतिकूल विषयो के उपस्थितिकाल मे इन्द्रिय मन का व्यापार अच्छा नहीं लगता, इससे या तो प्राणी ऐसे विषयों दूर करना चाहता है अथवा अपने इन्द्रिय या मन के व्यापार को करना। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं करना चाहता। और घृणा मे जो अंतर है वह यहाँ देखा जा सकता है। क्रोध विषय पीड़ा या हानि पहुँचानेवाला होता है, इससे क्रोधी उसे नष्ट मे प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इन्द्रिय या मन के व्यापार संकोच मात्र उत्पन्न करनेवाला होता है इससे मनुष्य को उतना उग्र नही होता और वह घृणा के विषय की हानि करने मे तुरत बिना और विचार किए प्रवृत्त नहीं होता। हम अत्याचारी पर क्रोध और व्यभिचारी से घृणा करते हैं। क्रोध और घृणा के बीच एक और ध्यान देने योग्य है। घृणा का विषय हमे घृणा का दुःख पहुँ के विचार से हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, पर क्रोध का चेतन वि हमें आघात या पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य से हमारे सामने उपस्थित है या समझा जाता है। न दुर्गन्ध ही इस लिए हमारी नाक में घुसे है कि हम घिन लगे और न व्यभिचारी ही इस लिए व्यभिचार करता है कि हमें उसको करते सुन उसपर घृणा करने का दुःख उठाना पड़े। यदि घृणा का विषय जान बूझकर हम घृणा का दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से हमारे सामने उपस्थित हो तो हमारा ध्यान उस घृणा के विषय से हट कर उसकी उपस्थिति के कारण की ओर हो जाता है और हम क्रोध-साधन में तत्पर हो जाते हैं। यदि आपको किसी से घृणा

हैं। निर्लज्जता की कथा कितनी ही सुरीली तान में सुनाई जा...
उत्पन्न ही करेगी। कैसा ही गंदा आदमी परोपकार करे ...
उत्पन्न हुए बिना न रहेगी।

अरुचिकर और प्रतिकूल विषयों के उपस्थितिकाल में ...
मन का व्यापार अच्छा नहीं लगता; इससे या तो प्राणी ...
दूर करना चाहता है अथवा अपने इन्द्रिय या मन के व्यापार ...
करना। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं करना चाहता।
और घृणा मे जो अंतर है वह यहाँ देखा जा सकता है। क्रोध...
विषय पीड़ा या हानि पहुँचानेवाला होता है, इसमे क्रोधी उसे नष्ट...
मे प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इन्द्रिय या मन के ...
संकोच मात्र उत्पन्न करनेवाला होता है इससे मनुष्य को उतना ...
नहीं होता और वह घृणा के विषय की हानि करने मे तुरंत बिना...
और विचार किए प्रवृत्त नहीं होता। हम अत्याचारी पर क्रोध...
व्यभिचारी से घृणा करते हैं। क्रोध और घृणा के बीच एक...
और ध्यान देने योग्य है। घृणा का विषय हमें घृणा का दुःख ...
के विचार से हमारे सामने उपस्थित नहीं होता; पर क्रोध का चेतन...
हमे आघात या पीडा पहुँचाने के उद्देश्य से हमारे सामने उपस्थित...
है या समझा जाता है। न दुर्गन्ध ही इस लिए हमारी नाक मे ...
है कि हम घिन लगे और न व्यभिचारी ही इस लिए व्यभिचार क...
कि हम उसकी करतूत सुन उससे घृणा करने का दुःख उठा...
यदि घृणा का विषय जान बूझकर हमें घृणा का दुःख पहुँचाने...
अभिप्राय से हमारे सामने उपस्थित हो तो हमारा ध्यान उस घृ...
विषय से हट कर उसकी उपस्थिति के कारण की ओर हो जाता है ...
हम क्रोध-साधन में तत्पर हो जाते हैं। यदि आपको किसी ...

ति देख घिन लगेगी तो आप अपना मुँह दूसरी ओर फेर लेंगे, उसके ति नहीं तोड़ने जायँगे। पर यदि जिधर जिधर आप मुँह फेरते हैं धर उधर वह भी आकर खड़ा हो तो आश्चर्य नहीं कि वह थप्पड़ खा ाय। यदि होली में कोई गंदी गालियाँ बकता चला जाता है तो णा मात्र लगने पर आप उसे मारने न जायँगे उससे दूर हटेंगे; पर दि जहाँ जहाँ आप जाते हैं वहाँ वहाँ वह भी आपके साथ-साथ श्लील बकता जाता है तो आप उस पर फिर पडेंगे।

घृणा और पीड़ा के स्वरूप में जो अंतर है वह स्पष्ट है। वज्रपात े शब्द का अनुभव भद्दे गले के आलाप के अनुभव से भिन्न है। आँख ें किरकिरी पड़ना और बात है, सर्दी बिल्ली सामने आना और बात। यदि कोई स्त्री आप से मीठे शब्दों में कलुषित प्रस्ताव करे तो उसके प्रति आपका घृणा होगी, पर वही स्त्री यदि आपको छुरी लेकर मारने आए तो आप उस पर क्रोध करेंगे। घृणा का भाव शान्त है, उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं है। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का। हम किसी से घृणा करेंगे तो बहुत करेंगे उसकी राह बचाएँगे उससे बोलेंगे नहीं पर यदि किसी पर क्रोध करेंगे तो ढूँढ कर उससे मिलेंगे और उसे और नहीं तो दस पाँच ऊँची नीची सुनाएँगे। घृणा विषय से दूर ले जानेवाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जानेवाली। कहीं कहीं घृणा क्रोध का शांत रूपांतर मात्र प्रतीत होती है। साधारण लोग जिन बातों पर क्रोध करते देखे जाते हैं साधु लोग उनसे घृणा मात्र करके, और यदि साधुता ने बहुत जोर किया तो उदासीन ही होकर रह जाते हैं। दुर्जनों की गाली सुनकर साधारण लोग क्रोध करते हैं पर साधु लोग उपेक्षा ही करके संतोष कर लेते हैं। जो क्रोध एक

लिए विवश हैं। इसी प्रकार स्वार्थत्याग, परोपकार, इन्द्रिय-संयम आदि पर श्रद्धा होना एक प्रकार स्वाभाविक सा हो गया है। मतभेद वहाँ देखा जाता है जहाँ और विषयों को पाकर लोग अनुबंध द्वारा घृणा के इन प्रतिष्ठित मूल विषयों तक पहुँचते हैं। यदि एक ही व्यापार से एक आदमी को घृणा मालूम हो रही है और दूसरे को नहीं, तो यह समझना चाहिए कि पहला उस व्यापार के आगे पीछे चारों ओर जिन रूपों की उद्भावना करता है; दूसरा नहीं।

दल-बल सहित भरत को वन में आते देख निषाद को उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो रही है और राम को नहीं, क्योंकि निषादराज भरत के आगमन में असहाय राम को मार निष्कंटक राज्य करने की उद्भावना करता है और राम नहीं। इस प्रकार के भेद का कारण मनुष्य के अनुबंध-ज्ञान की उलटी गति है। अनुबंध ज्ञान का क्रम या तो प्रस्तुत विषय पर से उसे संघटित करनेवाले कारणों की ओर चलता है या परिणामों की ओर। किसी प्रस्तुत विषय को पाकर हर एक आदमी अनुबंध द्वारा उससे वास्तविक संबंध रखनेवाले अंत समान विषयों तक नहीं पहुँच सकता। एक बात को देख कर हर एक आदमी उसका एक ही या समान कारण या परिणाम नहीं बतलाएगा। किसी रियासत के नौकर ने अपने एक मित्र से कहा कि 'तुम कभी भूल कर भी इस रियासत में नौकरी न करना।' इस कथन में एक आदमी को तो हितकामना की झलक दिखाई पड़ रही है और दूसरे को ईर्ष्या की। इससे एक उस पर श्रद्धा करता है और दूसरा घृणा। जहाँ घृणा के मूल विषय प्रत्यक्ष रूप से सीधे हमारे सामने आते हैं वहाँ कोई मतभेद नहीं दिखाई देता। पर कभी कभी स्वयं ये विषय हमारे सामने नहीं

घृणा के विषय में मतभेद का एक और कारण ग्राह्य और अग्राह्य होने के लिए विषय मात्रा की अनियति है। सृष्टि में बहुत सी वस्तुओं के बीच की सीमाएँ अस्थिर हैं। एक ही वस्तु, व्यापार या गुण किसी मात्रा में श्रद्धा का विषय होता है, किसी मात्रा में अश्रद्धा का। इसके अतिरिक्त शिक्षा और संस्कार के कारण एक ही मात्रा का प्रभाव प्रत्येक हृदय पर एक ही प्रकार का नहीं पड़ता। यह नहीं है कि एक बात एक आदमी को जहाँ तक अच्छी लगती है वहाँ तक दूसरे को भी अच्छी लगे। मन में प्रतिकूल बातें रख कर मुँह पर अनुकूल बातें कहनेवाले को एक आदमी शिष्ट और दूसरा कुटिल कहता है। उपचार या मुँह पर प्रसन्न करनेवाली बात कहने को जहाँ तक एक आदमी शिष्टता समझता चला जाता है दूसरा वहाँ से कुटिलता का आरम्भ मान लेता है। दो चार बार किसी आदमी को थोड़ी थोड़ी बात पर रोते या कोप करते देख कर एक तो उसको दुर्बलचित्त और उद्वेगशील समझता है और दूसरा उसी को थोड़ी थोड़ी बात पर विलाप करते और आपे के बाहर होते दस बार देख कर भी उसे सहृदय कहता है। रसिक लोग शुष्कहृदय लोगों से घृणा करते हैं और शुष्कहृदय लोग रसिकों से। यदि ये दोनों मिल कर एक दिन शुष्कता और रसिकता की सीमा ते कर डालें तो झगड़ा मिट जाय। शुष्कहृदय लोग नाप तौल कर यह बतला दें कि यहाँ तक की रसिकता शोहदापन या विषयासक्ति नहीं है और रसिक लोग यह बतला दें कि यहाँ तक की शुष्कता कठोर हृदयता नहीं है, बस झगड़ा साफ। पर यह हो नहीं सकता। दृढ़ता और हठ, धीरता और आलस्य, सहनशीलता और भीरुता, उदारता और फजूलखर्ची, किफायत और कंजूसी आदि के बीच की सीमाएँ सब मनुष्यों के हृदय में न एक हैं और न एक होंगी।

भेद बढ़ सकता है, पर हमारे भय के कारण उसमें नया क्रोध उत्पन्न नहीं होगा। अपने ऊपर किसी को दया करते देख हम उस पर श्रद्धा प्रकट करेंगे, हमारी श्रद्धा से उसकी दया तत्क्षण बढ़ेगी नहीं। श्रद्धा पर दया नहीं होती है; दया होती है क्लेश पर। श्रद्धा पर जो वस्तु हो सकती है वह कृपा है। जिस पर हमें दया उत्पन्न हुई है उसको और क्लेशित या भयभीत देख कर हमारी दया बढ़ सकती है पर हमें दया करते देख (उस दया के कारण) उसका क्लेश या भय बढ़ेगा नहीं। किसी को अपने प्रति ईर्ष्या करते देख कर हम उससे घृणा प्रकट करेंगे। हमारी घृणा उसमें नई ईर्ष्या उत्पन्न कर उसकी ईर्ष्या बढ़ाएगी नहीं। घृणा पर ईर्ष्या नहीं होती है, ईर्ष्या होती है किसी की उन्नति या बढ़ती देख कर। प्रतिकार के रूप में जो अहित-कामना उत्पन्न होती है वह ईर्ष्या नहीं है। घृणा के बदले में तो घृणा, क्रोध, या वैर होता है।

यह जान कर कि घृणा प्रेष्य मनोविकारों में से है लोगों को बहुत समझ बूझ कर उसे स्थान देना और प्रकट करना चाहिए। ऊपर कहा जा चुका है कि घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है अर्थात् अपने विषयों से दूर रखने की प्रेरणा करती है। अतः यदि हमारी घृणा अज्ञानवश ऐसी वस्तुओं से है जिनसे हमें लाभ पहुंच सकता है तो उनके अभाव का कष्ट हमें भोगना पड़ेगा। शारीरिक बल और शिक्षा आदि से जिन्हें घृणा है वे उनके लाभों से वञ्चित रहेंगे। किसी बुद्धिमान् मनुष्य से जो मन में घृणा रक्खेगा वह उसके सत्संग के लाभों से हाथ धोएगा।

उपयुक्त घृणा को भी यदि वह दृढ़ है तो प्रकट करने की आवश्यकता नहीं होती। घृणा का उद्देश्य जिसके हृदय में वह उत्पन्न होती है उसी की क्रियाओं को निर्धारित करना है, जिसके प्रति उस

कि अच्छा लगना एक बात है और उस अच्छा लगने के सुख को उत्पन्न करने के लिए उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा दूसरी बात।

घृणा और भय की प्रवृत्ति एक सी है। दोनों अपने अपने विषयों से दूर होने की प्रेरणा करते हैं। परंतु भय का विषय भावी हानि का अनिश्चित निश्चय करानेवाला होता है और घृणा का विषय उसी क्षण इन्द्रिय या मन के व्यापारों में संकोच उत्पन्न करनेवाला। घृणा के विषय से यह समझा जाता है कि जिस प्रकार का दुःख यह दे रहा है उसी प्रकार का देता जायगा पर भय के विषय से यह समझा जाता है कि अभी और प्रकार का अधिक तीव्र दुःख देगा। भय क्लेश नहीं है, क्लेश की छाया है; पर ऐसी छाया है जो हमारे चारों ओर घोर अंधकार फैला सकती है। सारांश यह कि भय एक अतिरिक्त क्लेश है। यदि जिस बात का हमें भय था वह हम पर आ पड़ी तो हमें दोहरा क्लेश पहुँचा। इसीसे आनेवाली अनिवार्य्य आपदाओं के पूर्वज्ञान की हमें उतनी आवश्यकता नहीं क्योंकि उनसे भय करके हम अपने को बचा तो सकते नहीं उनके पहले के दिनों के सुख को भी खो अलबत्त सकते हैं।

सभ्यता या शिष्टता के व्यवहार में 'घृणा' उदासीनता के नाम से छिपाई जाती है। दोनों में जो अन्तर है वह प्रत्यक्ष है। जिस बात से हमें घृणा है, हम चाहते क्या आकुल रहते हैं कि वह बात न हो, पर जिस बात से हम उदासीन हैं उसके विषय में हमें परवा नहीं रहती वह चाहे हो, चाहे न हो। यदि कोई काम किसी की रुचि के विरुद्ध होता है तो वह कहता है उहँ 'हमसे क्या मतलब, जो चाहे सो हो'। वह सरासर झूठ बोलता है, पर इतना झूठ समाजस्थिति के लिए आवश्यक है।

इनमें व्यक्ति की ओर जो लक्ष्य है उसे क्रमशः विशेषत्व प्राप्त होता गया है और वस्तु की ओर जो लक्ष्य है वह कम होता गया है। पहले वाक्य में जो भाव झलकता है वह ईर्ष्या नहीं है, साधारण स्पर्द्धा अर्थात् लाभ की उत्तेजित इच्छा का एक अच्छा रूप है। उसमें वस्तु की ओर लक्ष्य है, व्यक्ति की ओर नहीं। ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत। दूसरे वाक्य में ईर्ष्या का कुछ, और तीसरे में पूरा आभास है। इन दोनों में से एक (दूसरे) में दूसरे को वञ्चित न रख सकने का दुःख गौण और दूसरे (तीसरे) में प्रधान या एकांत है।

स्पर्द्धा में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है, या यदि इच्छा पहले से होती है तो उस इच्छा को उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार की वेगपूर्ण इच्छा या इच्छा की उत्तेजना अन्तःकरण की उन प्रेरणाओं में से है जो मनुष्य को अपने उन्नति-साधन में तत्पर करती है। इसे कोई संसार को सच्चा समझनेवाला बुरा नहीं कह सकता। यह उत्तेजना ऐश्वर्य, गुण या मान के किसी चित्ताकर्षक रूप या प्रभाव के साक्षात्कार से उत्पन्न होती है और कभी कभी उस ऐश्वर्य, गुण या मान को धारण करनेवाले की पूर्वस्थिति के परिज्ञान से बहुत बढ़ जाती है। किसी अपने पड़ोसी या मित्र की विद्या का चमत्कार या आदर देख विद्या प्राप्ति की इच्छा उत्तेजित होती है और यह जानकर कि पहले वह एक बहुत साधारण बुद्धि या वित्त का मनुष्य था, वह उत्तेजना आशा-प्रेरित होकर और भी बढ़ जाती है। प्राप्ति की इस उत्तेजित इच्छा के लिए सम्पन्न व्यक्ति ऐसा मूर्तिमान और प्रत्यक्ष आधार हो जाता है जिससे अपनी उन्नति या सम्पन्नता की भी आशा बँधती है,

प्रकट करने का अवसर कहाँ मिल सकता है? जब तक किसी कार्यालय में छोटे से बड़े तक सब अपना अपना नियमित कार्य ठीक ठीक करते हैं तब तक एक के लिए दूसरे पर अपनी बड़ाई प्रकट करने का अवसर नहीं आता है। पर जब कोई अपने कार्य में त्रुटि करता है तब उसका अफसर उसे दंड देकर अपनी बड़ाई या अधिक सामर्थ्य दिखाता है। सापेक्ष बड़ाई दूसरे को क्षति-ग्रस्त करने और दूसरे को नम्र करने की सामर्थ्य का नाम है। अधिकार की सापेक्ष बड़ाई दूसरे को क्षतिग्रस्त करने की सामर्थ्य है और धन या गुण की सापेक्ष बड़ाई दूसरे को नम्र करने की सामर्थ्य है। इससे विदित हुआ कि यह छोटाई बड़ाई हर समय तमाशा दिखाने के लिये नहीं है, बल्कि अवसर पड़ने पर संशोधन या शिक्षा के लिये है। किसी अवध के तअल्लुकेदार के लिये बड़ाई का यह स्वाँग दिखाना आवश्यक नहीं है कि जब मन में आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ लोगों को चिढ़ाता चले। किसी देहाती थानेदार के लिये यह जरूरी नहीं है कि वह सिर पर लाल पगड़ी रख गंवारों को गाली देकर हर समय अपनी बड़ाई का अनुभव करता और कराता रहे। अभिमान [illegible] व्यक्तिगत गुण है [illegible] समाज के भिन्न भिन्न व्यवसायों के साथ [illegible] ठीक नहीं [illegible] स्थान स्थान [illegible] अभिमान [illegible] स्थापित [illegible] अच्छा नहीं [illegible]

[illegible] धन और [illegible]

[illegible] और खुशामदखाना न [illegible]

इसी प्रकार [illegible] धन या गुण [illegible]

न हो जाना चाहिए कि वह औरों के धन या गुण [illegible] गुण का मिलान किया करे और [illegible]

की ईर्ष्या में नैराश्य का भाव और अपनी कमी का दुःख मिला रहता है, इससे उसकी कलुषता उतनी गहरी नहीं जान पड़ती। निराश और अभाव-पीड़ित मनुष्य जैसे इधर उधर भूलता भटकता फिरता है वैसे ही ईर्ष्या की राह में भी जा पड़ता है। पर सम्पन्न ईर्ष्यालु की स्थिति ऐसी क्षोभकारिणी नहीं होती।

हमारा कोई साथी है जो किसी वस्तु में हम से कम है। उसकी कमी और अपनी बड़ाई देख दिखा कर हर घड़ी प्रसन्न होने का हमें दुर्व्यसन हो गया है। इसी बीच उसको भी वह वस्तु प्राप्त हो जाती है और हमें जान पड़ता है कि हमारी स्थिति, जो सापेक्ष थी, मारी गई। अपने आनंद में इस प्रकार बाधा पड़ते देख हम अपने साथी की उस प्राप्ति से दुखी होते हैं और मन ही मन उस पर कुढ़ते भी हैं। साथी को बहुत दिनों तक तो इसका पता ही नहीं चलता, पीछे पता चलने पर भी वह हमारे इस दुःख मे कुछ भी सहानुभूति नहीं करता। हमारी कुप्रवृत्ति का कारण बिना अवसर के हर घड़ी बड़ाई का अनुभव या स्थिति की सापेक्षता का सुख भोगने की लत है। किसी स्थिति की वास्तविकता पर मुख्य और सापेक्षिकता पर गौण दृष्टि रखनी चाहिए। सापेक्षिकता नजर का खेल है और कुछ नहीं। यदि हमें पेट भर अन्न नहीं मिलता है पर लोग समझते हैं कि हम अपने किसी साथी से अच्छे या धनी हैं तो लोगों की इस धारणा से हमारा पेट नहीं भर सकता। लोगों की इस धारणा से आनंद होता है पर वह उस आनंद का शतांश भी नहीं है जो वास्तविक स्थिति से प्राप्त वस्तुओं से मिलता है। अतः स्थिति के वास्तविक आनंदों को छोड़ इस छाया-रूपी आनंद पर मुख्य रूप से ध्यान रखना प्रमाद और स्थिति की रक्षा का बाधक है। यदि

भय

किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभ-कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं। क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिए। क्रोध दुःख के कारण के स्वरूप-बोध के बिना नहीं होता। यदि दुःख का कारण चेतन होगा और यह समझा जायगा कि उसने जान-बूझ कर दुःख पहुँचाया है, तभी क्रोध होगा। पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नहीं, इतना भर मालूम होना चाहिए कि दुःख या हानि पहुँचेगी। यदि कोई ज्योतिषी किसी गँवार से कहे कि "कल तुम्हारे हाथ-पाँव टूट जायँगे" तो उसे क्रोध न आएगा, भय होगा। पर उसीसे यदि कोई दूसरा आकर कहे कि "कल अमुक अमुक तुम्हारे हाथ पैर तोड़ देंगे" तो वह तुरत त्योरी बदल कर कहेगा कि "कौन हैं हाथ पैर तोड़नेवाले ? देख लूँगा"।

भय का विषय दो रूपों में सामने आता है—असाध्य रूप में और साध्य रूप में। असाध्य विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असंभव हो या असंभव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रखा जा सकता हो। दो मनुष्य एक पहाड़ी नदी के किनारे बैठे या आनंद से बातचीत करते चले जा रहे हैं। इतने में सामने शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। यदि वे दोनों उठकर भागने, छिपने या पेड़ पर चढ़ने आदि का प्रयत्न करें तो बच सकते हैं। विषय के साध्य या असाध्य होने की धारणा परिस्थिति

सभ्यता की वर्तमान स्थिति मे एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नहीं रहा जैसा पहले रहा करता था पर एक जाति को दूसरी जाति से, एक देश को दूसरे देश से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गए है। सबल और सबल देशों के बीच अर्थसघर्ष की, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है, एक क्षण का विराम नहीं है। इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग मे दोनो का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रखने के लिए क्षात्रधर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

जिस प्रकार सुखी होने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है उसी प्रकार मुक्तातक होने का भी। पर कर्मक्षेत्र के चक्रव्यूह मे पड़कर जिस प्रकार सुखी होना प्रयत्न साध्य होता है उसी प्रकार निर्भय रहना भी। निर्भयता के सपादन के लिए दो बाते अपेक्षित होती है—पहली तो यह कि दूसरो को हम से किसी प्रकार का भय या कष्ट न हो, दूसरी यह कि दूसरे हमको कष्ट या भय पहुँचाने का साहस न कर सकें। इनमे से एक का सबध उत्कृष्ट शील से है और दूसरी का शक्ति और पुरुषार्थ से। इस ससार मे किसी को न डराने से ही डरने की सभावना दूर नहीं हो सकती। साधु से साधु प्रकृति-वाले को क्रूर लोभियो और दुर्जनो से क्लेश पहुँचता है। अत उनके प्रयत्नो को विफल करने या भयसचार द्वारा रोकने की आवश्यकता से हम बच नहीं सकते।

जाता है कि दूध इसीसे मिलता है, भूखा होने पर वह उसे देखते ही अपने रोने मे कुछ क्रोध का आभास देने लगता है।

सामाजिक जीवन मे क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरो के द्वारा पहुँचाए जानेवाले बहुत से कष्टों की चिर निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो चार प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल आह-ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नही। उस दुष्ट के हृदय मे विवेक, दया आदि उत्पन्न करने मे बहुत समय लगेगा। संसार किसी को इतना समय ऐसे छोटे छोटे कामो के लिए नही दे सकता। भयभीत होकर भी प्राणी अपनी रक्षा कभी कभी कर लेता है पर समाज मे इस प्रकार प्राप्त दु ख-निवृत्ति चिरस्थायिनी नही होती। हमारे कहने का अभिप्राय यह नही है कि क्रोध के समय क्रोध करनेवाले के मन मे सदा भावी कष्ट से बचने का उद्देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि चेतन सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसी लिए है।

जिससे एक बार दु ख पहुँचा, पर उसके दुहराए जाने की सभावना कुछ भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है, उसमे रक्षा की भावना कुछ भी नही रहती। अधिकतर क्रोध इसी रूप मे देखा जाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जा रहे हैं। इनमे से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते बात ही बात मे एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला। प्रतिकार ही कहा जायगा क्योकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे

या उसे दु:ख पहुँचे क्रुद्ध का यही लक्ष्य होता है। न तो वह यह देखता है; कि मैंने भी कुछ किया है या नहीं और न इस बात का ध्यान रखता है कि क्रोध के वेग मे मैं जो कुछ करूँगा उसका परिणाम क्या होगा। यही क्रोध का अंधापन है। इसीसे एक तो मनोविकार ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं; ऊपर से बुद्धि या विवेक भी उन पर अंकुश रखता है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि मन में दुःखदाता की शक्ति के रूप और परिमाण के निश्चय, दया-भय आदि और भावो के संचार तथा उचित अनुचित के विचार के लिए जगह ही न रही तो बड़ा अनर्थ खड़ा हो जाता है। जैसे यदि कोई सुने कि उसका शत्रु बीस पचीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार और अपनी रक्षा का पूरा प्रबंध किए उसे मारने के लिए अकेले दौड़ पड़े तो उसके मारे जाने मे बहुत कम संदेह समझा जायगा। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरात, उसका उद्देश्य अच्छी तरह समझ लेने पर ही आवश्यक मात्रा और उपयुक्त स्थिति मे ही क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिए उसका विकास होता है।

क्रोध की उग्र चेष्टाओ का लक्ष्य हानि या पीड़ा पहुँचाने के पहले आलंबन मे भय का सचार करना रहता है। यदि जिस पर क्रोध प्रकट किया जाता है वह डर जाता है और नम्र होकर पश्चात्ताप करता है तो क्षमा का अवसर सामने आता है। क्रोध का गर्जन तर्जन क्रोधपात्र के लिए भावी दुष्परिणाम की सूचना है, जिससे कभी कभी उद्देश्य की पूर्त्ति हो जाती है और दुष्परिणाम की नौबत नहीं आती। एक की उग्र आकृति देख दूसरा किसी अनिष्ट व्यापार से विरत हो जाता है या नम्र होकर पूर्वकृत दुर्व्यवहार के लिए क्षमा चाहता है।

जब आग न जली तब उस पर कोप करके चूल्हे मे पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है। यात्रियो ने बहुत मे ऐसे जंगलियो का हाल लिखा है जो रास्ते मे पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर चूर किए आगे नही बढते। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोविकार बहुत प्रबल पड़ जाता है तो वह अंत प्रकृति मे अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को बचपन से मिलती जुलती अवस्था मे ले जा कर पटक देता है।

क्रोध सब मनोविकारां से फुरतीला है इसीसे अवसर पडने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय मे उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थकष्ट मे होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस अबला के दु ख का कारण मूर्त्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक रोकने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था मे क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले मे दया की वाह वाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया ही का होता है। लोग यही कहते हैं कि "उसने दया करके बचा लिया", यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया।" ऐसे अवसरो पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती।

क्रोध शाति भंग करने वाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे

क्रोध बुराई की हद के बाहर समझा जाता है। क्रोधोत्तेजक
जितना ही अपने संपर्क से दूर होगा उतना ही लोक में क्रोध
स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। अपने दुःख से आगे
पर भी कुछ दूर तक क्रोध का कारण थोड़ा बहुत अपना ही दुःख
जा सकता है—जैसे, अपने आत्मीय या परिजन का दुःख, इ[illegible]
का दुःख। इसके आगे भी जहाँ तक दुःख की भावना के साथ
ऐसी विशेषता लगी रहेगी कि जिसे कष्ट पहुँचाया जा रहा है वह हमारे
ग्राम, पुर या देश का रहनेवाला है, वहाँ तक हमारे क्रोध के सौंदर्य
की पूर्णता में कुछ कसर रहेगी। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष रहेगी
वहीं सच्ची पर-दुःख-कातरता मानी जायगी, वहीं क्रोध के स्वरूप को
पूर्ण सौंदर्य प्राप्त होगा—ऐसा सौंदर्य जो काव्यक्षेत्र के बीच भी
जगमगाता आया है।

यह क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हमारे सामने
आता है। स्वामी से सेवक कुछ कठिन होते ही हैं, उनमें कुछ अधिक
कठोरता रहती ही है। पर यह कठोरता ऐसी कठोरता का भंग करने
के लिए होती है जो पिघलनेवाली नहीं होती। क्रौंच के वध पर
वाल्मीकि मुनि के करुण क्रोध का सौंदर्य एक महाकाव्य का सौंदर्य
हुआ। उक्त सौंदर्य का कारण है निर्विशेषता। वाल्मीकि के क्रोध
के भीतर प्राणिमात्र के दुःख की सहानुभूति छिपी है—राम के क्रोध
के भीतर संपूर्ण लोक के दुःख का क्षोभ समाया हुआ है। क्षमा
जहाँ से श्रीहत हो जाती है वहीं से क्रोध के सौंदर्य का आरंभ होता है।
शिशुपाल की बहुत सी बुराइयों तक जब श्रीकृष्ण की क्षमा पहुँच चुकी
तब जाकर उसका लौकिक लावण्य फीका पड़ने लगा और क्रोध की
समीचीनता का सूत्रपात हुआ। अपने ही दुःख पर उत्पन्न क्रोध तो

बहुत समय देता है। सच पूछिए तो क्रोध और बैर का भेद केवल कालकृत है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करनेवाला मनोविकार क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करनेवाला भाव बैर है। किसी ने आपको गाली दी। यदि आपने उसी समय उसे मार दिया तो आपने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद आपको कहीं मिला। अब यदि आपने उससे बिना फिर गाली सुने, मिलने के साथ ही उसे मार दिया तो यह आपका बैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि बैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से बैर नहीं मानते। चूहे और बिल्ली के संबंध का 'बैर' नाम आलंकारिक है। आदमी का न आम अंगूर से कुछ बैर है न भेड़ बकरे से। पशु और बच्चे दोनों क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं।

क्रोध का एक हलका रूप है चिड़चिड़ाहट, जिसकी व्यंजना प्रायः शब्दों ही तक रहती है। इसका कारण भी वैसा उग्र नहीं होता। कभी कभी चित्त व्यग्र रहने, किसी प्रवृत्ति में बाधा पड़ने या किसी बात का ठीक सुभीता न बैठने के कारण ही लोग चिड़चिड़ा उठते हैं। ऐसे सामान्य कारणों के अवसर बहुत अधिक आते रहते हैं इससे चिड़चिड़ाहट के स्वभावगत होने की संभावना बहुत अधिक रहती है। किसी मत, संप्रदाय या संस्था के भीतर निरूपित आदर्शों पर ही अनन्य दृष्टि रखनेवाले बाहर की दुनिया देख देख कर अपने जीवन भर चिड़चिड़ाते चले जाते हैं। जिधर निकलते हैं, रास्ते भर मुँह बिगड़ा रहता है। चिड़चिड़ाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है, इसीसे रोगियों और बुड्ढों में अधिक पाई जाती है। इसका स्वरूप उग्र

कविता क्या है ?

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिए दिए दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अन्त तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनत-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग क्षेम, हानि लाभ, सुख दुःख आदि से संवद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर—अपने आपको विल्कुल भूल कर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सबधों के सकुचित मडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की

नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूतियोग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक-रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सब का प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर-जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा संबंध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते तब तक उन पर काव्यदृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, [illegible] पक्षी, फूल, शाखा [illegible] ही चिरन्तन रूप हैं। [illegible] कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का [illegible]

झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घेरना, नदी का उमडना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बांह पकड़ कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग मे झोकना, गला काटना ऐसे व्यापारो का भी मनुष्य जाति के भावो के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य है। ऐसे आदिम रूपो और व्यापारो मे, वशानुगत वासना की दीर्घ-परंपरा के प्रभाव से, भावो के उद्बोधन की गहरी शक्ति सचित है; अत: इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओ तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व-हरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एजिन मे कोयला झोकना आदि व्यापारो द्वारा नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ ज्यो ज्यो मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए त्यो त्यो उनके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गए। भावो के आदिम और सीधे लक्ष्यो के अतिरिक्त और और लक्ष्यो की स्थापना होती गई, वासनाजन्य मूल व्यापारो के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारो का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारो मे मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावो का सीधा लगाव नहीं। जैसे आदि मे भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी सन्तति ही की रक्षा तक था, पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहां तक कि होते होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातो की रक्षा की चिन्ता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के

होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ आदि अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों के विषय तो अमूर्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्ध-दर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका संबंध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे संपत्ति से एकदम वंचित रखने के लिये वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज़ तैयार करता है। इसकी ख़बर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यवहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज़ या कागज़ का टुकड़ा। पर उस कागज़ के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी संतति को अन्न वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज़ का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण मात्र हैं। अत उसके क्रोध में और उस कुत्ते के क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है काव्यदृष्टि से कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के बाह्य रूप बदल कर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े लत्ते पहन कर समाज में आता है जिससे मार-पीट छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसीसे इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों

सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों त्यो कवियो के लिये यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियो से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पडेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यो ज्यो हमारी वृत्तियो पर सभ्यता के नए नए आवरण चढ़ते जायँगे त्यो त्यो एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कविकर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन मे दया का संचार करना चाहेगा ता क्षोभ के साथ उससे कहेगा, "भाई! तुम यह सब इसी लिए न कर रहे हो कि तुम पक्की हवेली मे बैठकर हलवा पूरी खाओ और मै एक झोपड़ी मे बैठा सूखे चने चबाऊँ, तुम्हारे लडके दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठंड से कॉपते रहे"। यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमे सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटा कर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गए है जिनसे हमारे भावो का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावो को उत्तेजित करने मे अधिक समर्थ है। कोई बात जब इस रूप मे आएगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमे नुकसान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज बनाया" इस वाक्य मे रसात्मकता नही। इसी बात को ध्यान मे रख कर ध्वनिकार ने कहा है—"नहि कवेरितिवृत्त मात्र निर्वाहेणात्मपदलाभ।"

देश की वर्तमान दशा के वर्णन मे यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायँ कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है, स्त्री शिक्षा का अभाव है" तो ये छदोबद्ध होकर भी काव्यपद के अधिकारी

हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे, तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया ? इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

काव्यदृष्टि कहीं तो १. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३. कहीं समस्त चराचर के।

१. पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के नाना संबंधों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना ही काव्यों में—मुक्तक हों या प्रबन्ध—अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खण्डकाव्यों के मार्ग में यद्यपि शेष सृष्टि के क्षेत्र भी बीच बीच में पड़ जाते हैं पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि रामायण में यद्यपि बीच बीच में ऐसे विशद वर्णन बहुत कुछ मिलते हैं जिनमें कवि की मुग्ध दृष्टि प्रधानतः मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूपजाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान

हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन मे थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे, और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो; केवल पद का अर्थ मात्र समझ कर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण मे पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्रचर्चा मे दूसरे प्रकार का। बिंबग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन के रूप मे ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह हेमन्तवर्णन लीजिए—

अवश्याय-निपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्ट तरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्त तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्याय-तमोनद्धा नीहार-तमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥
बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भांति सांप्रतम्॥
जरा-जर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भांति कमलाकराः॥

(वन की भूमि, जिसकी हरी हरी घास ओस गिरने से कुछ कुछ गीली हो गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त

मानो जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड सुकोड़ लेता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अन्धकार में सोए से ज्ञात पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें लाल पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर-कर्णिकाएँ टूट फूट कर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल मात्र खड़े हैं।)

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का इसी रूप से ग्रहण कुमारसंभव के आरंभ तथा रघुवंश के बीच बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की भीतरी बाहरी वृत्तियों के प्रदर्शन के लिए लिखे जाते हैं और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र अन्तर्वृत्ति-विधान के लिए ही प्रसिद्ध है, पर उनके 'उत्तर रामचरित' में कहीं कहीं बाह्य प्रकृति के बहुत ही सांग और संश्लिष्ट खंड-चित्र पाए जाते हैं। पर मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत में मिली है वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूल कर कभी कभी मग्न हुआ करता है वह घूम घूम कर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देशप्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीडा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सब से भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर सीधी सादी प्रेमदृष्टि।

अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर सुसज्जित या सुन्दर रूप में; कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में;

भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपो मे लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप-मधुप-गुंजार. कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल-सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास-हिमविन्दु-मंडित-मरकताभ-शाद्वल जाल अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गंभीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध-वर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता मे ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन है—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपो मे रमानेवाले वर्णन हमे वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों मे मिलते है। पिछले खेवे के कवियो ने मुक्तक-रचना मे तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओ का अलग अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबन्ध-रचना मे जो थोड़ा बहुत सश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को ले कर ही। अँगरेजी के पिछले कवियो मे वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य, चिर-परिचित, सीधे सादे प्रशान्त और मधुर दृश्यो की ओर रहती थी, पर शेली की असाधारण, भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य संभूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे सादे चिर-परिचित दृश्यो मे कितने माधुर्य की अनुभूति होती है। पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल मे सिक्त तुरत की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवनवाली ग्रामवनिताओ मे, साफ सुथरे ग्राम-

वन्यों और कथा-कोविद ग्रामवृद्धों में इसी प्रकार के माधुर्य का अनुभव किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मंडली के साथ बैठा करते थे, विड़पेड़ी बुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम आते जाते थे उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था; नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यनाशी के नीलाभ-हरित कटीले, कटावदार पौदे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सपुटों के बीच लाल लाल बिंदियां झलकती थीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्यजाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरंपरागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़ पौदों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अत प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबंध रखते हैं। हम पेड़-पौदों और पशु-पक्षियों से संबंध तोड़ कर बड़े बड़े नगरों में आ बसे, पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रख कर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यावँ म्यावँ कर के मांगती है या चोरी से ले जाती

कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेव जी कभी कभी दीवार फोड कर निकल पडते हैं। बरसात के दिनो मे जब सुर्खी चूने की कडाई की परवा न कर हरी हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि "तुम हम से क्यो दूर दूर भागे फिरते हो ?"

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति मे ढूँढ़ा करते हैं उन मे उस रागात्मक "सत्व" की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन कर के हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। संपूर्ण सत्ताएँ एकही परम सत्ता और संपूर्ण भाव एक ही परम भाव के अंतर्भूत हैं। अत बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अंत मे जाकर दोनो पक्ष की वृत्तियो का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यो की भी व्यंजना करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावो की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्राय. बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियो को उन पर अपने भावो का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती। तथ्यो का आरोप या संभावना अलबत वे कभी कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी

ऐसे कथन को 'काव्य' के क्षेत्र से घसीट कर 'सूक्ति' या 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं? वे समझते हैं कि सूर्य अन्धकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है, कहीं देखते ही हमारा भी नाश न कर दे'। यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या संभावित रहते हैं, वहाँ वे अलंकार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय स्वतः हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जङ्गल कट कट कर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जायँ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आसपास रहते हैं और छीन झपट कर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अतः उनके [illegible] की मार्मिक [illegible] बन्दर हमारे [illegible] और किसी पेड़ के ऊपर [illegible] हो सकता है कि —

[illegible]

दानी जो हमारे रहे, वे भी दास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उनकी उमंग उपकार की तू
छेंकता है जाता, हम जायँ कहाँ, तू ही कह!

पेड़-पौधे, लता गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यंजना करते हैं जो कभी कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को, ग्रीष्म के प्रचंड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को, शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को, मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को, प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को, प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूप-चेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कहीं कहीं इस व्यंजना की ओर ध्यान दिया है। कहीं कहीं का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूप-चेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नहीं। पर उनकी विशेष विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसों तक फैले कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वट वृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोंकों से उसकी टहनियाँ और पत्ते हिल हिल कर मानो बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँख मूँदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते हैं। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हम में से कोई उठ कर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस

परिस्थिति को देख हम में से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार संबोधन करे तो कर सकता है—

> काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम !
>
> अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
>
> भरी है इसीमें वह स्वर्ग-स्वप्न-धारा अभी
>
> जिसमें न पूरा पूरा नर बह पाया है।
>
> शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य !
>
> प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।
>
> हे नर ! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
>
> देख फिर घोर रूप तू ने जो कमाया है॥

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि कभी तो इन पर अलग अलग रहती है और कभी समष्टि रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गंभीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले मात्र जानते हैं कि काव्यदृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान नदी नाले टीले मैदान समुद्र आकाश मेघ नक्षत्र इत्यादि की रूप-गति आदि से भी हम सौंदर्य माधुर्य भीषणता, भव्यता, विचित्रता उदासी उदारता संपन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमड़ी हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर उधर हरी भरी लहलहाती प्रकृति का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत सौहार्द

दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का; वात-विलोड़ित जलप्रसार में क्षोभ और आकुलता का; विकीर्ण घन-खंड-मंडित, रश्मि-रंजित सांध्य दिगंचल में चमत्कारपूर्ण सौंदर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टा मात्र होते हैं।

जड़ जगत् के भीतर पाए जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अनेक मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करती हैं। जीवन के तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरक्षेत्र के बीच देखते हैं तो सुखसमृद्धि और संपन्नता की दशा में दिन रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करनेवाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत् के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं वे उसके सूखने पर अपना अपना रास्ता लेते हैं —

> कोलाहल सुनि खगन के, सरवर ! जनि अनुराग।
> ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन देहैं त्यागि ॥
> दुर्दिन देहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहै।
> दूरहि ते तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहै ॥

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यंजना भी मिल सकती है। अपने इधर उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी

हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृंखलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृंखलता और ध्वंस अल्प-कालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नई शक्ति का संचय होता है। उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन का या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।

(३) पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली भावदृष्टि की अपेक्षा संपूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गभीर कही जायगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर नर-सत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशान्त और गम्भीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव का उद्-

करे उसे उस भाव का आलंबन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इद्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यों त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियो के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों की तह मे छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावो या मनोविकारो के विवेचन मे हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म मे प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्कबुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य्य मे प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अनन्तर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य

से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रन्दन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना मे लाना कवि का। अत. यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं, अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है. उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी कभी वे दूसरों का जी दुखने के डर से, आत्मगौरव, कुलगौरव या जातिगौरव के ध्यान से, अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना मे मग्न होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अत· अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार, ऐसों को कार्य्य-भ्रंशकारी मुर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी को भी आलंबनोपयुक्त रूप या दशा मे पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थबुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उनकी यही विशेषता अर्थपरायणों को—अपने काम से काम रखनेवालों को—एक

सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होगा।

मनुष्यता की उच्च भूमि

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का मूल संबंध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भावप्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने जोड़े, बच्चों या खिलाने पिलानेवालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सतानेवालों तक ही जाता है, स्ववर्ग या प्राणिमात्र को सतानेवालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ साथ भावप्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने संबन्धियों, अपने पड़ोसियों, अपने देशवासियों क्या मनुष्यमात्र और प्राणिमात्र तक से प्रेम करने भर की जगह उसके हृदय में बन गई है। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सतानेवाले पर नहीं चढ़ती गाय-बैल और कुत्ते-बिल्ली को सतानेवाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देख कर भी उसके नेत्र सजल होते हैं। बंदर को शायद बंदरिया के मुँह में ही सौन्दर्य दिखाई पड़ता होगा पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत पत्थर में भी सौन्दर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक स्तंभ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर रसमग्न होने लगता है हमें जान लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने

पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार मे हो गया है।

कवि-वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख-दु ख, आनन्द ... आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बंधन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है। किसी अर्थपिशाच कृपण को देखिए जिसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्माभिमान आदि भावों को एक दम दबा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख वह पैसो का हिसाब किताब भूल कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन दुखिया को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है; न कोई अपमान-सूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यदि उससे किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो वह मनुष्य-धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ कहेगा कि "जाने दो, हमसे क्या मतलब, चलो अपना काम देखें।" यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है। इसी प्रकार किसी महा क्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दु ख और क्लेश की भावना स्वप्न मे भी नही होती। ऐसो को सामने पाकर स्वभावत यह मनमें आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है। इनकी दवा कविता है।

कविता ही हृदय को प्रकृत दशा मे लाती है और जगत् के बीच क्रमश उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता

नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनंद-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।

भावना या कल्पना

इस निबन्ध के आरंभ में ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आए हैं और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष बता आए है। यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हम से अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार और भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़ सुन कर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अन्तःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है। कुछ कवि किसी बात के सारे मार्मिक अंगों का पूरा ब्योरा दे कर स्पष्ट चित्रण कर देते हैं पाठक या श्रोता की कल्पना के लिए बहुत कम काम छोड़ते हैं और कुछ कवि कुछ मार्मिक खंड रखते हैं जिन्हें पाठक की तत्पर कल्पना आपसे आप पूरा करती है।

कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि

विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। योरपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अंतर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो पर यदि उसमें उपयुक्त भावसंचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अन्तर्गत न होगा।

मनोरंजन

प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापन है। इतने गंभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हलका उद्‌देश्य सामने रख कर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं वे रास्ते ही में रह जानेवाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरान्त कुछ और भी होता है और वही और सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर किए रहती है, उसे इधर उधर जाने नहीं देती। अच्छी से अच्छी बात को भी कभी कभी लोग केवल कान से सुन भर लेते हैं, उनकी ओर उनका मनोयोग नहीं होता। केवल यही कह कर कि 'परोपकार करो,' 'दूसरों पर दया करो,' 'चोरी करना महा पाप है,' हमें यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अपकारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान् या कोई चोर साधु हो

जाता। क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नहीं, वह ऊपर ही ऊपर रह जाता है। ऐसे वाक्यों द्वारा सूचित व्यापारों का मानव जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता।

पर कविता अपनी मनोरंजन-शक्ति द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाए रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य होता है उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौन्दर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौन्दर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता की इसी रमानेवाली शक्ति को देख कर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। मनोरंजन या आनन्द तो बहुत सी बातों से हुआ करता है। किस्सा कहानी सुनने से भी तो पूरा मनोरंजन होता है, लोग रात रात भर सुनते रह जाते हैं। पर [illegible] एक ही बात है? [illegible] करते हैं, केवल [illegible] कविता और कहानी का [illegible] भाव में मग्न रखता है और [illegible] चाहता है। [illegible]

रहता है। कविता सुननेवाला कहता है "ज़रा फिर तो कहिए"। सुननेवाला कहता है. "हाँ! तब क्या हुआ?"

मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना, ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझ कर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं। हिन्दी के रीति-काल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की काम-वासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे। पीछे से ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गरमी के मौसिम के लिए एक कवि जी व्यवस्था करते हैं—

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार घँसिए॥
जेठ में गोविन्द लाल चंदन के चहलन
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए।

इसी प्रकार शिशिर के मसाले सुनिए—

गुलगुली गिलमैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चिक हैं, चिराकैं हैं, चिरागन की माला है।

कविता केवल वस्तुओं के ही रूपरंग में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख-मंडल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियोंका सौन्दर्य भी मन में जमाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंस्रवृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है। इस कुरूपता का अवस्थान सौन्दर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए। जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी सुन्दर रूप कविता ढूँढ़ कर दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा?

जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें तृप्त करती है वही उसकी अंतर्वृत्ति की सुन्दरता का आभास देकर हमें मुग्ध करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ पर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग प्रत्यंग की सुषमा को अंकित किया है उसी ने नवाबनन्दिनी आयशा के अंतस् की अपूर्व सात्विकी ज्योति की झलक दिखा कर पाठकों को मुग्ध किया है। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के बीच वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि की रूपविभूति से हम सौन्दर्यमग्न होते हैं उसी प्रकार अन्तःप्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौन्दर्य लहराता हुआ पाते हैं। यदि कहीं बाह्य और आभ्यंतर दोनों सौन्दर्यों का योग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है! यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरुष की [illegible]

अथवा किसी अत्यन्त रूपवती स्त्री की सुशीलता, कोमलता और प्रेम-परायणता आदि भी सामने रख दी जायँ तो सौन्दर्य की भावना सर्वांग-पूर्ण हो जाती है।

सुन्दर और कुरूप—काव्य मे बस ये ही दो पक्ष हैं। भला बुरा, शुभ अशुभ, पाप पुण्य, मंगल अमगल, उपयोगी अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर के है। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी; न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपो मे दिखाई जाती हैं-सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौन्दर्य-पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरो को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनु-सार सुन्दर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक मे सुख, भवबंधन से मोक्ष आदि की ओर रहती है। पर कवि की दृष्टि इन सब बातो की ओर नही रहती। वह उधर देखता है जिधर सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। इतनी सी बात ध्यान में रखने से ऐसे ऐसे झमेलो मे पडने की आवश्यकता बहुत कुछ दूर हो जाती है कि "कला मे सत् असत्, धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नही," "कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं।"

कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओ के रूपरग मे अथवा मनुष्यो के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष-साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौन्दर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिम्ब सी जान पड़ती है। मनुष्य

में भी देखा जाता है कि कभी कभी हम किसी को मूर्ख न कह कर 'बैल' देते हैं। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भ। मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देख कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो यदि उक्तिवैचित्र्यशून्य है तो काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमे किसी भाव या मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायगा। उदाहरण के लिए पद्माकर का यह सीधा सादा वाक्य लीजिए—

"नैन नचाय कही मुसकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी'"।

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिए—

अलि! हौं तो गई जमुना-जल को,
सो कहा कहौं, वीर! विपत्ति परी।
घहराय के कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै के बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी,
गहि बाहँ गरीब ने ठाढ़ी करी॥

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यन्त स्वाभाविक वितर्क-व्यजना देखिए—

वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ-उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै॥

ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वैहै॥

ठाकुर में प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाए हैं वे ऐसे ही हैं जैसे स्त्रियों में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैये में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नए प्रेमी के चित्त के वितर्क की बड़े सीधे सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के व्यंजना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्यत्व नहीं है ?

अब इनके सामने उन केवल चमत्कारवाली उक्तियों का विचार कीजिए जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जायँ अथवा प्रभात होने पर कौवों के काँव काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा या अंधकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश न कर दे। भोजप्रबंध तथा और और सुभाषित-संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की रामचंद्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलङ्कारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करनेवाली या किसी भावना में मग्न करनेवाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिए पताका और पंचवटी के ये वर्णन लीजिए—

पताका

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहति पल आधु।
परम तपोमय मानि। दण्डधारिणी जानि॥

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
पाँडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर औ तिलकावलि रूरी।
राजति है यह ज्यों कुलकन्या। धाय विराजति है सँग धन्या

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है? ये उसके मर्म को स्पर्श कर सकती हैं?

ऊपर दिए अवतरणों में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की में उसके प्रवर्तक के रूप मे यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जायगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मनबहलाव चाहे हो जाय पर काव्य की लीन करनेवाली सरसता न पाई जायगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग अलग स्थायी भावों की रसरूप मे अनुभूति और भिन्न भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र अद्भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने मे नहीं आया करती या जिसमे बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न हो कर एकबारगी कथन के

के ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता वहाँ भी काव्य ही माना जायगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
देव जियै मिलिबेई की आस कै आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में इस नायिका के शरीर का संघटित करनेवाले पंचभूत धीरे धीरे निकलते जा रहे हैं। [illegible] दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गई, जल [illegible] आँसुओं [illegible] गया, तेज भी न रह गया—[illegible] [illegible] रही, पार्थिव तत्व के निकल [illegible] इसके चारों ओर आकाश ही [illegible] है—[illegible] दिखाई पड़ रहा है। [illegible]

ताका है और मन्द मन्द हँस कर उसके मन को हर लिया है उसी
से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन मे देव जी ने विरह की भिन्न भिन्न दशाओ में चा
के निकलने को वडी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व
वड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक अनुप्रास आदि भी है
सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून
पूरी वदिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार
वीच मे भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अ..
नही हो गई है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली
पंक्तियो मे वर्षा के रूपक का जो व्यग्य-चमत्कार है वह भाव-
के साथ अनूठे ढंग से गुंफित है—

दोऊ अनन्द सों आँगन माँझ विराजैं
असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को
अचानक नाम लिया रसिकाई॥
आई उनै मुह में हँसी,
कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद,
सुहास गयो उडि हंस की नाईं॥

इसके विरुद्ध विहारी की उन उक्तियों मे जिनमे विरहिणी के शरीर के
पास ले जाते ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है, उसके विरह ताप
की लपट के मारे माघ के महीने मे भी पडोसियो का रहना कठिन हो
जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो चार हाथ
पीछे और साँस छोडने के साथ दो चार हाथ आगे उड़ जाती है, अत्युक्ति

एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मजाक, कहाँ विरहवेदना!

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए दासजी की ये विरहदशा-सूचक उक्तियाँ लीजिए—

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री,
तेरी तन दुति केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वाति-बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो॥
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो,
री! जियरो मनोभव-बानन को तुनीर भो।
एरी! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

यों ही भाव प्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है—

तू जो कही सखि! लोनो सरूप,
सो मो अँखियान को लोनी गई लगि।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण अनुभूति नायिका को हो रही है—कभी आँसू आते हैं, कभी अपनी दशा पर आप आश्चर्य होता है, कभी हलकी सी हँसी भी आ जाती है कि अच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच अपनी अन्तरंग सखी का सामना पाकर किंचित् विनोद-चातुरी की भी प्रवृत्ति होती है। ऐसी जटिल अन्तर्दशा द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता आ ही जाती है। ऐसी चित्त-वृत्ति के अवसर पर

नहीं आया करते। सूरदास जी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भाव-प्रेरित उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हम कुन्तल जी का "वक्रोक्ति काव्यजीवितम्" मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो। उसके आगे नहीं। कुन्तल जी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी आजकल क्रोस के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करनेवाला वाक्य। वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न माननेवाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षणा में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढ़ेंगे।

कविता की भाषा

कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए, यह हम पहले कह आए हैं। अतः उसमें गोचर रूपों का विधान अधिक होता है। वह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारों को ही लेती है जो

स्वाभाविक होते हैं और संसार में सब से अधिक मनुष्यों को सब से अधिक दिखाई पड़ते हैं।

अगोचर बातों या भावनाओं को भी जहाँ तक हो सकता है कविता गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, "समय बीता जाता है" कहने की अपेक्षा "समय भागा जाता है" कहना वह अधिक पसन्द करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना इत्यादि ऐसे ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ि होकर आ गई हैं। लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) धन्य भूमि बनपथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा।—तुलसी।

(ख) मनहुँ उमगि अँग अँग छवि छलकै।—तुलसी।

(ग) चूनरि चारु चुई सी परै।

(घ) बनन में बागन में बगरो बसन्त है।—पद्माकर

(ङ) वृन्दावन-बागन पै बसन्त बरसो परै।—पद्माकर

(च) हौं तो स्यामरंग में चोराइ चित चोराचोरी बोरत तौ बोरयो पै निचोरत बनै नहीं।—पद्माकर

(छ) एहो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल हाल ही तो चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै पद्माकर नहीं तो ये झकोरे लगे ओरे लौं अचाक बिनु घोरे घुरि जायगी।

तौ ही लगि चैन जौलौं चेतिहै न चन्दमुखी, चेतैगी कहूँ
चाँदनी मे चुरि जायगी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना को मूर्त्त रूप मे रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा मे दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति सकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत से रूपो या व्यापारों का एक साथ चलता सा अर्थ-ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दो को हम जाति-संकेत कह सकते है। ये मूर्त्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते। किसी ने कहा "वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है"। इस अत्याचार शब्द के अन्तर्गत मारना पीटना, डाटना डपटना, लूटना पाटना, इत्यादि बहुत मे व्यापार हो सकते हैं. अत. 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारो की एक मिली जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिए मन में आ जाती है, कुछ विशेष व्यापारो का स्पष्ट चित्र या मूर्त्त रूप नहीं खडा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं। ये तत्व-निरूपण, शास्त्रीय विचार आदि में ही अधिक उपयोगी होते है। भिन्न भिन्न शास्त्रो मे बहुत से शब्द तो विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। शास्त्रमीमांसक या तत्व-निरूपक को किसी सामान्य तथ्य या तत्व तक पहुँचने की जल्दी रहती है इससे वह किसी सामान्य धर्म के अन्तर्गत आनेवाली बहुत सी बातों को एक मान कर अपना काम चलाता है, प्रत्येक का अलग अलग दृश्य देखने दिखाने में नहीं उलझता।

कविता इन वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त रूप
में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कुछ देर रखना चाहती है।
अतः उस प्रकार के व्यापक अर्थ-संकेतों से ही उसका काम नहीं चल
सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना रहता है वहाँ
वह उसके अन्तर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी कुछ विशेष वस्तुओं या
व्यापारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है।
यदि कहीं के घोर अत्याचार का वर्णन करना होगा तो वह कुछ निरपराध
व्यक्तियों के वध, भीषण यंत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि का
भयंकारी दृश्य सामने रखेगी। "वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है" इस
वाक्य द्वारा वह कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती। अत्याचार शब्द
के अन्तर्गत न जाने कितने व्यापार आ सकते हैं, अतः उसे सुन कर या
पढ़ कर सम्भव है कि भावना में एक भी व्यापार स्पष्ट रूप से न आए या
आए भी तो ऐसा जिसमें मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति न हो।

उपर्युक्त विचार से ही किसी व्यवहार या शास्त्र के पारिभाषिक शब्द
भी काव्य में लाए जाने योग्य नहीं माने जाते। हमारे यहाँ के आचार्यों
ने पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को "अप्रतीतत्व" दोष माना है। पर
दोष स्पष्ट होते हुए भी चमत्कार के प्रेमी कब मान सकते हैं? संस्कृत के
अनेक कवियों ने वेदान्त, आयुर्वेद, न्याय के पारिभाषिक शब्दों को लेकर
बड़े बड़े चमत्कार खड़े किए हैं या अपना कौशल दिखाया है। हिन्दी
के किसी मुकदमेबाज़ कवित्त कहनेवाले ने "प्रेमफौजदारी" नाम की एक
छोटी सी पुस्तक में शृंगाररस की बातें अदालती कारवाइयों पर घटाकर
लिखी हैं। "एकतरफा डिगरी", "तनकीह" ऐसे ऐसे शब्द चारों ओर
अपनी बहार दिखा रहे हैं, जिन्हें सुनकर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचि-
वाले वाह वाह भी कर देते हैं।

शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को भी जब कोई कवि अपनी रचना के भीतर लेता है तब वह पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्तिवाले अभि-संकेत शब्दों को हटा कर उस तथ्य को व्यंजित करनेवाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण करता है। कवि गोचर और मूर्त रूपों के द्वारा ही अपनी बात कहता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी के ये वचन लीजिए—

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागे।

इसमें माया में पड़े हुए जीव की अज्ञानदशा का काव्य-पद्धति पर कथन है। और देखिए। प्राणी आयु भर क्लेशनिवारण और सुखप्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता, इस बात को गोस्वामीजी यों सामने रखते हैं—

डासत ही गई बीति निसा
सब, कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो।

भविष्य का अज्ञान अत्यन्त अद्भुत और रहस्यमय है जिसके कारण प्राणी आनेवाली विपत्ति की कुछ भी भावना न करके अपनी दशा मे मग्न रहता है। इस बात को गोस्वामीजी ने "चरै हरित तृन बलिपशु" इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अगरेज कवि पोप ने भी भविष्य के अज्ञान का यही मार्मिक चित्र लिया है, यद्यपि उसने इस अज्ञान को ईश्वर का वडा भारी अनुग्रह कहा है—

उस ब लपशु को देख आज जिसका तू, रे नर!
अपने रँग में रक्त वहाएगा वेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा,
क्रीडा करता कभी उछलता फिरता ऐसा?
अन्तकाल तक हरा हरा चारा चभलाता।

मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य-साधन के लिए ही है। नाद सौष्ठव के निमित्त निरूपित वर्णविशिष्टता को हिन्दी के हमारे कुछ पुराने कवि इतनी दूर तक घसीट ले गए कि उनकी बहुत सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गई। उसमें अनुप्रास की लम्बी लड़ी—वर्ण विशेष की निरन्तर आवृत्ति—के सिवा और किसी बात पर ध्यान नहीं जाता। जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिए थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिए काम मे लाई गई।

नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनो तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग, उनके अर्थ की [illegible] इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही, प्रसन्न-चित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अत. नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिल्कुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते है वे छन्द को पकडे रहते है, जो छन्द को भी फालतू समझते है वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं मे नाद सौन्दर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अत अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमे इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वञ्चित कैसे कर सकते हैं?

हमारी होता भाषा मे एक चौथी विशेषता भी है जो संस्कृत से ही आई है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियो के नामो के स्थान पर उनके रूप गुण या कार्यबोधक शब्दो का व्यवहार किया जाता है।

ऊपर से देखने में तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिए ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इससे गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं, जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी कभी उनके ऐसे रूप, गुण या आचार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुननेवाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए "हे गोपिकारमण! हे वृन्दावन-विहारी!" आदि कह कर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा "हे मुरारि! हे कंसनिकंदन!" आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देख कर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को "मुरलीधर" कह कर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को प्रबल उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत ब

दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूपरंग या गुण की भावना को उसी ^
के और रूपरंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली
और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी कभी बात
को भी घुमा फिरा कर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न भिन्न
विधान और कथन के ढङ्ग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे से
कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं कहीं तो इनके बिना
काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन
हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुला कर इन्हीं को साध्य मान लेने से
कविता का रूप कभी कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही
नहीं रह जाती। पुरानी कविता मे कहीं कहीं इस बात के उदाहरण
मिल जाते हैं।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप मे हों (जैसे, उपमा,
रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में), चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे,
अप्रस्तुतप्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में), चाहे वर्ण-
विन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास मे), लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या
भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही। मुख के वर्णन में जो कमल, चन्द्र
आदि सामने रखे जाते हैं वह इसी लिए जिसमे इनकी वर्णरुचिरता,
कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग से सौन्दर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य
या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रकृत लक्ष्य नहीं है।
इस बात को भूल कर कवि-परंपरा मे बहुत से ऐसे उपमान चला दिए
गए हैं जो प्रस्तुत भावना मे सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा डालते
हैं। जैसे, नायिका का अंगवर्णन सौन्दर्य की भावना प्रतिष्ठित करने
के लिए ही किया जाता है। ऐसे वर्णन मे यदि कटि का प्रसंग आने
पर भिड़ या सिंह की कमर सामने कर दी जायगी तो सौन्दर्य की

रचना में क्या वृद्धि होगी ? प्रभात के सूर्यबिंब के सम्बन्ध में इस कथन से कि "है शोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को" अथवा शिखर की तरह उठे हुए मेघखंड के ऊपर उदित होते हुए चन्द्रबिम्ब के सम्बन्ध में इस उक्ति से कि "मनहुँ क्रमेलक-पीठि पै धरयो गोल घंटा लसत," दूर की सूझ चाहे प्रकट हो, पर प्रस्तुत सौन्दर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती।

पर जो लोग चमत्कार ही को काव्य का स्वरूप मानते हैं वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व कहा ही चाहें। चन्द्रालोककार तो कहते हैं कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।

भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था, पर भामह, रुद्रट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड़ अलंकारों को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में—रस, रीति, गुण आदि काव्य में प्रयुक्त होने-वाली सारी सामग्री के अर्थ में—किया है। पर ज्यों ज्यों शास्त्रीय विचार गंभीर और सूक्ष्म होता गया त्यों त्यों साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते उभरते विश्वनाथ महापात्र के साहित्यदर्पण में साफ ऊपर आ गया।

प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन हो गए। वर्ण्य वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई है। प्रस्तुत अप्रस्तुत के भेद ने बहुत सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिए है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत या

वस्तु नहीं; वल्कि वर्णन की भिन्न भिन्न प्रणालियाँ है, कहने के ख। खास ढङ्ग है। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ ऐसे चले आ रहे है जो वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं और अल नहीं कहे जा सकते—जैसे, स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। भाव को लेकर कुछ अलकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलंकार-कोटि मे आ ही नहीं सकती। अलकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलङ्कार-प्रणाली के अन्तर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु विशेष से किसी अलकार-प्रणालीका सम्बन्ध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन किन रसों के विभावों और अनुभावों के अन्तर्गत आएगा, इसकी सूचना रसनिरूपण के अन्तर्गत ही हो सकती है।

अलकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। काव्यप्रकाश की कारिका मे यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रिया रूप-वर्णनम।

अर्थात—"जिसमे बालकादिका को निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।" प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अत यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। खैर, बालक की रूपचेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलबन विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिंदी गद्य-साहित्य का सूत्रपात करनेवाले चार महानुभाव कहे जाते हैं—मुशी सदासुख लाल, इशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारो सवत् १८६० के आसपास वर्तमान थे। सच पूछिए तो ये गद्य के नमूने दिखानेवाले ही रहे, अपनी परपरा प्रतिष्ठित करने का गौरव इनमे से किसी का भी प्राप्त न हुआ। हिंदी-गद्य-साहित्य की अखंड परपरा का प्रवर्त्तन इन चारो लेखको के ७०-७२ वर्ष पीछे हुआ। विक्रम की बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण समाप्त हो जाने पर जब

उन्होंने देखा कि बहुत से ऐसे शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थ, कविताओ मे बराबर लाए जाते हैं जिससे वे सर्वसाधारण के लगाव से कुछ दूर पडती जाती हैं। 'चकवै,' 'ठायो,' 'करसायल,' 'इठ,' 'दीह,' 'ऊनो,' 'लोय' आदि के कारण बहुत से लोग हिन्दी-कविता को अपने से कुछ दूर की चीज समझने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी हद तक पहुँच गया था, वह शब्दो का तोड मरोड था। जैसे कपियो का स्वभाव 'रूख तोड़ना' तुलसीदासजी ने बताया है वैसे ही कवियो का स्वभाव शब्द तोड़ना-मरोड़ना हो गया था। भाषा की सफ़ाई पर बहुत कम ध्यान रहता था। बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा इन बातो का भी बहुत कुछ सुधार—चाहे जान मे या अनजान मे—हुआ। इस प्रकार काव्य की व्रजभाषा के लिए भी उन्होने बहुत अच्छा रास्ता दिखाया। अपने रसीले कवित्तो और सवैयो में उन्होने चलती भाषा का व्यवहार किया है, जैसे—

आजु लौं जौ न मिले तो कहा,हम तौ तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहि, सबै फल आपने भाग को पावैं॥
जो हरिचन्द भई सो भई, अब प्रान चले चहैं तासो सुनावैं।
प्यारे जू! है जग की यह रीति, बिदा के समय सब कंठ लगावैं॥

इसी कारण उनकी कविता का प्रचार भी देखते देखते हो गया। लोगो के मुँह से उनके सवैये भी चारो ओर सुनाई देने लगे, उनके बनाए गीत स्त्रियाँ तक घर घर मे गाने लगी। उनकी रचना लोकप्रिय हुई। उनके समय में जो सग्रह-ग्रथ बने उन सब मे उनकी कविताएँ विशेषतः सवैये भी रखे गए। लीक पीटनेवालो की पुरानी पडी हुई शब्दावली हटा देने से उनकी काव्यभाषा मे भी बडी सफाई दिखाई पड़ी।

यह तो हुई भाषा की रूप-प्रतिष्ठा की बात। इससे भी बढ़कर

का मन लगे। इस कलाकार मे बड़ा भारी गुण यह था कि इसने और पुराने विचारों को अपनी रचनाओं मे इस सफाई से मिलाया। कहीं से जोड मालूम न हुआ। पुराने भावों और आदर्शों को ले इन्होंने नए आदर्श खड़े किए। देखिए, 'नीलदेवी' मे एक देवता मुँह से भारतवर्ष का कैसा मर्मभेदी भविष्य कहलाया है—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होय एहि नासा।
अब तजहु वीर वर भारत की सब आसा॥
अब सुख-सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
मंगलमय भारत-भुव मसान ह्वै जैहै॥

राजा सूरजदेव के मारे जाने पर रानी नीलदेवी ने जिस रीति से भगवान् को पुकारा है वह कोई नई नहीं। वह वही रीति है जिससे द्रौपदी ने भगवान् को पुकारा था। भेद इतना ही है कि द्रौपदी ने अपनी लज्जा रखने के लिए, अपना संकट हटाने के लिए, पुकार मचाई थी, नीलदेवी ने देश की लज्जा रखने के लिए, देश का संकट दूर करने के लिए पुकारा है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए?
जागत नाहिं, अनेक जतन करि भारतवासी रोए॥

बड़ा भारी काम भारतेन्दु ने यह किया कि स्वदेशाभिमान, स्वजाति-प्रेम, समाज सुधार आदि की आधुनिक भावनाओ के प्रवाह के लिए हिन्दी को चुना तथा इतिहास, विज्ञान, नाटक, उपन्यास, पुरावृत्त इत्यादि अनेक समयानुकूल विषयो की ओर हिन्दी को दौड़ा दिया। अब यह देखना है कि यदि वे कवि थ तो किस ढङ्ग के थे। विषय-क्षेत्र के विचार से देखते है तो प्राय. तीन ढङ्ग के कवि पाए जाते हैं। कुछ तो नर-प्रकृति के वर्णन मे ही अधिकतर लीन रहते हैं, कुछ बाह्य प्रकृति के

वर्णन में और कुछ दोनों में समान रुचि रखते हैं। पिछले वर्ग में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति इत्यादि संस्कृत के प्राचीन कवि ही आते हैं।

बाबू हरिश्चन्द्र अधिकांश भाषा-कवियों के समान प्रथम प्रकार के कवियों में थे। यद्यपि इन्होंने अपनी कविता द्वारा नए नए संस्कार उत्पन्न किए पर उनके स्वरूप को परम्परानुसार ही रक्खा। मानवी वृत्तियों ही के मर्मस्पर्शी अंशों को छाँट कर इन्होंने मनोविकारों को तीव्र और परिष्कृत करने का प्रयत्न किया, दूसरी प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की मर्मस्पर्शिनी शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा; उसे उसी के बनाए हुए घेरे में रख कर देखा। मनुष्य की दृष्टि को उसके फैलाए हुए प्रपंचावरण से बाहर, प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की ओर, ले जाने का प्रयास इन्होंने नहीं किया। बात यह थी कि हिन्दी-साहित्य का उत्थान ही ऐसे समय में हुआ जब लोगों की दृष्टि बहुत कुछ संकुचित हो चुकी थी। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के आदर्श लोगों के सामने से हट चुके थे।

हमारे आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में जो भावुकता थी [illegible] काल पीछे [illegible] [illegible] प्रकृति का निरीक्षण किया है [illegible] [illegible] जाती है। वाल्मीकि के [illegible] [illegible] गोचर है। उनके [illegible] —

[illegible]

[illegible]

[illegible]

रूपं यथा शान्त महार्णवस्य ॥

व्यामिश्रितं-सर्जकदम्ब-पुष्पै-

नवं जलं पर्वत-धातु-ताम्रम्।

मयूर केकाभिरनुप्रयातं,

शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥

उपर्युक्त वर्णन मे किस सूक्ष्मता के साथ कविकुलगुरु ने ऐ प्राकृतिक व्यापारों का निरीक्षण किया है जिनको बिना किसी अनूठी उक्ति के गिना देना ही कल्पना का परिष्कार और भाव का संचार करने के लिए बहुत है। कालिदास के कुमारसंभव का हिमालय-वर्णन, रघुवंश मे उस वन का वर्णन जहाँ नन्दिनी को लेकर दिलीप गए है, तथा मेघदूत मे यक्ष के बताए हुए मार्ग का वर्णन बार बार पढ़ने योग्य हैं। भवभूति का तो कहना ही क्या हैं। देखिए—

एते तएव गिरयो विरुवन्मयूरा—

स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ॥

आमञ्जु-वञ्जुल-लतानि च तान्यमूनि,

नीरन्ध्र-नील-निचुलानि सरित्तटानि ॥

इन महाकवियो ने कथाप्रसग के अतिरिक्त जहाँ वर्णन की रोचकता के लिए मनुष्य-व्यापार दिखाए हैं वहाँ इन्होंने ऐसे ही स्थलो के व्यापारों को दिखलाया है जहाँ मनुष्य से प्रकृति की सन्निकटता है—जैसे ग्रामों के आस पास किसानो का खेत जोतना या काटना, ग्वालो का गाय चराना, इत्यादि इत्यादि। जैसे मेघदूत मे यक्ष मेघ से कहता है।

(क) त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रू विकारानभिज्ञैः

प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधू-लोचनैः पीयमानः ॥

सद्यस्सीरोत्कषण-सुरभिः क्षेत्रमारुह्य मालं।

किञ्चित्पश्चाद्व्रज लघुगतिः किञ्चिदेवोत्तरेण ॥

(ख) कृपी निरावहिं चतुर किसाना ।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ॥

सच्चे कवि ऋतु आदि के वर्णन में ऐसे ही व्यापारों को सामने लाते हैं। ऐसे कवि ग्रीष्म में छाया के नीचे बैठ कर हाँफते हुए कुत्तों और पानी में बैठी हुई भैंसों का उल्लेख चाहे भले ही कर जाँय, पर पसीने से तर रोकड़ मिलाते हुए मुनीब जी की ओर ध्यान न देंगे।

मनुष्य के व्यापार परिमित और संकुचित हैं। अतः बाह्य प्रकृति के अनंत और असीम व्यापारों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों को सामने करके भावना या कल्पना को शुद्ध और विस्तृत करना भी कवि का धर्म है, धीरे धीरे लोग इस बात को भूल चले। इधर उस [illegible] के भी जो कवि हुए उन्होंने अधिकतर मनुष्य की चित्तवृत्तियों के विविध रूपों को कौशल और मार्मिकता के साथ दिखाया पर बाह्य प्रकृति की स्वच्छन्द क्रीडा की ओर कम ध्यान दिया। पीछे से तो राजाश्रयलोलुप मँगते कवियों के कारण कविता केवल वाक्चातुर्य या शब्दों का शतरंज बन गई विषयी लोगों के काम की चीज़ हो गई। भर्तृहरि के समय ही से यह दुरवस्था [illegible] हो गई थी [illegible] उन्होंने दुःख के साथ कहा था—

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां [illegible]
गता कालेनासौ विषयसुख[illegible] ।

वन, नदी, पर्वत आदि [illegible]
[illegible]
कविता को [illegible]
ने इस के [illegible] ।

फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल के सुर्ख बिछौने लगे। यदि कोई षटऋतु की लीक पीटने चले हुए तो कहीं शरद चाँदनी से किसी विरहिणी का शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक कलेजों के टूक किए, कहीं किसी को प्रमोद में प्रमत्त किया। उन्हें इन ऋतुओं को उद्दीपन मात्र मान संयोग या वियोग की ... का वर्णन करना रहता था। उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों पर तो जमती नहीं थी, नायक या नायिका ही पर दौड़ दौड़ कर जाती थी। अत. उनके नायक या नायिका की अवस्था विशेष का प्रकृति की दो चार इनी गिनी वस्तुओं से जो संबंध होता था उसीको दिखा कर वे किनारे हो जाते थे।

बाबू हरिश्चन्द्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छेड़ नए नए संस्कार उत्पन्न किए पर उन्होंने भी प्रकृति पर प्रेम न दिखाया। उनका जीवन-वृत्तान्त पढ़ने से भी पता लगता है कि वे प्रकृति के उपासक न थे। उन्हें जंगल, पहाड़, नदी आदि को देखने का उतना शौक न था। वे अपने भाव "दस तरह के आदमियों के साथ उठ बैठ कर" प्राप्त करते थे। इसीसे मनुष्यों की भीतरी बाहरी वृत्तियाँ अंकित करने में ही वे तत्पर रहे हैं और नाटकों की ओर उन्होंने विशेष रुचि दिखाई है। भारतदुर्दशा, नीलदेवी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम आदि देखने से यह बात अच्छी तरह मन में बैठ जायगी।

ऐसा भी कहा जाता है कि एक दिन उनके यहाँ बैठ कर एक वेश्या गा रही थी जिसे देख कर उन्होंने कविता बनाई और पास के लोगों से कहा "देखो, यदि हम इनका सत्संग न रक्खें तो ये भाव कहाँ से सूझें ?" वे उर्दू-कविता के भी प्रेमी थे जिसमें बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की चाल ही नहीं और जिसमें कल्पना के सामने आने

'चन्द्रावली नाटिका' मे एक जगह यमुना के तट का वर्णन आया है पर वह भी परम्परा-युक्त (Conventional) ही है, उसमें उपमाओं उत्प्रेक्षाओं आदि की भरमार इस बात को सूचित करती है कि का मन प्रस्तुत प्राकृतिक वस्तुओ पर रमता नही था, हट हट जाता था कुछ अंश देखिए—

१ तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फललोभा॥
मनु आतप-वारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत॥

२ कहुँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥
कै करिकै कर बहु, पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

३ कै पियपद-उपमान जानि यहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृङ्गन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रजतियगन-बदन-कमल की झलकति झांई।
कै ब्रज हरिपद-परस हेतु कमला बहु आई॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल वगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन यहि करि सतधा निज जल धरत॥

बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को और भी अधिक ... प्राप्त हो जाता है, उनमें एक अपूर्व मनोहरता आ जाती है। ... शक्ति-सौन्दर्य्य की यह झलक मिल गई उसके हृदय में सच्चे वीर ... का अभिलाष जीवन भर के लिये जग गया, जिसने शील सौन्दर्य्य यह झाँकी पाई उसके आचरण पर इसके मधुर प्रतिबिम्ब की ... बैठी। प्राचीन भक्ति के इस तत्व की ओर ध्यान न देकर जो ल... भगवान् की लोकमंगल-विभूति के द्रष्टा तुलसी को कबीर, दादू आदि की श्रेणी में रख कर देखते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं।

अनन्त-शक्ति-सौन्दर्य्य-समन्वित अनन्त शील की प्रतिष्ठा करके गोस्वामीजी को पूर्ण आशा होती है कि उसका अभास पाकर जो पूरी मनुष्यता को पहुँचा हुआ हृदय होगा वह अवश्य द्रवीभूत होगा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

इसी हृदय-पद्धति द्वारा ही मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं। अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य्य के बीच से अनन्त शील की आभा फूटती देख जिसका मन मुग्ध न हुआ, जो भगवान् की लोकरंजन मूर्त्ति के मधुर ध्यान में कभी लीन न हुआ, उसकी प्रकृति की कटुता बिल्कुल ... दूर हो सकती।

सुजान, सपूत, सुलच्छन, गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल, तजत नहीं करुआई॥

चरम महत्व के इस भव्य मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भवविह्वल भक्त-हृदय के बीच जो जो भाव-तरंगे उठती हैं उन्हीं की माला विनय-पत्रिका है। महत्व के नाना रूप और इन भाव-तरंगों की स्थिति परस्पर

निज प्रतिबिंब समझनी चाहिए। भक्त में दैन्य, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्म-निवेदन आदि की गंभीरता उस महत्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार समझिए। महत्व का जितना ही सान्निध्य प्राप्त होता जायगा—उसका जितना ही स्पष्ट साक्षात्कार होता जायगा—उतना ही अधिक स्फुट इन भावों का विकास होता जायगा, और इन पर भी महत्व की आभा चढ़ती जायगी। मानों ये भाव महत्व की ओर बढ़ते जाते हैं और महत्व इन भावो की ओर बढ़ता आता है। इस प्रकार लघुत्व का महत्व में लय हो जाता है।

सारांश यह कि भक्ति का मूल तत्व है महत्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की भावना का उदय होता है। इस भावना को दो ही पंक्तियों मे गोस्वामीजी ने बड़े ही सीधे-सादे ढङ्ग से व्यक्त कर दिया है—

> राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो?
> राम सों खरो है कौन, मोसो कौन खोटो?

प्रभु के महत्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में अपने लघुत्व का अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनन्द आता है उसी प्रकार अपना लघुत्व-वर्णन करने में भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी [illegible] संसार में किसी का [illegible] के सामने उसे अपना [illegible] है। इस [illegible] वर्णन करने में [illegible]

मन का आप से आप सुशीलता की ओर ढल पड़ना—

तुम अपनायो, तब जनिहौं जब मन फिरि परिहै।

इस प्रकार शील को राम-प्रेम का लक्षण ठहरा कर गोस्वामी जी अपने व्यापक भक्तिक्षेत्र के अंतर्भूत कर लिया है।

भक्त यही चाहता है कि प्रभु के सौन्दर्य, शक्ति आदि की अनन्तता की जो मधुर भावना है वह अबाध रहे—उसमें किसी प्रकार की कसर आने पाए। अपने ऐसे पापी की सुगति को वह प्रभु की शक्ति का चमत्कार समझता है। अतः उसे यदि सुगति न प्राप्त हुई तो उसे इ पछतावा न होगा, पछतावा होगा इस बात का कि प्रभु की अनन्त की भावना बाधित हो गई—

नाहिन नरक परत मो कहँ डर जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी कहँ नामहु पाप न जारो॥

प्रभु के सर्वगत होने का ध्यान करते करते भक्त अन्त में जाकर उस अवस्था को प्राप्त करता है जिसमे वह अपने साथ साथ समस्त संसार को उस एक अपरिच्छिन्न सत्ता में लीन होता हुआ देखने लगता है, और दृश्य भेदों का उसके ऊपर उतना जोर नहीं रह जाता। तर्क या युक्ति ऐसी अवस्था की सूचना भर दे सकती है—"वाक्य-ज्ञान" भर करा सकती है। संसार मे परोपकार और आत्मत्याग के जो उज्ज्वल दृष्टान्त कहीं कहीं दिखाई पड़ा करते हैं, वे इसी अनुभूति मार्ग मे कुछ न कुछ अग्रसर होने के हैं। यह अनुभूति-मार्ग या भक्ति मार्ग बहुत दूर तक तो लोक-कल्याण की व्यवस्था करता दिखाई पड़ता है, पर और आगे चल कर यह निस्संग साधक को सब भेदों से परे ले जाता है।